होलकर हिन्दी ग्रन्थमाला पुष्प

जगद्गुरु भारतवर्ष.

लेखक

श्री सुखसम्पत्तिराय भण्डारी.

प्रकाशक

मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति,

इन्दौर.

सन १९२१ जुलाई.

मिलने का पता- मूल्य रू २)

[illegible]

PRINTED AT THE
HOLKAR STATE (ELECTRIC) PRINTING PRESS,
INDORE.

जगद्गुरु भारतवर्ष

की

अनुक्रमणिका।

निवेदन.

एक प्रख्यात् पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि स्वराष्ट्र के गौरवशाली भूतकालिक इतिहास के पढने से, उस राष्ट्र के निवासियों में नवीन जीवनशक्ति का आविर्भाव होता है. वह अपनी दशा को सुधारने में अग्रसर होता है. दर असल यह बात सच है. भारतवर्ष, इस वक्त. एक नये युग में प्रवेश कर रहा है. उसमें जागृति की ज्योति चमकने लगी है. ऐसी दशा में उसके प्राचीन गौरव, वैभव और महान् कार्य के वृत्तान्त से इस जागृति में कुछ सहायता मिलने की सम्भावना है. अगर इस ग्रन्थ से, इस सम्भावना की किंचित् भी पूर्ति हुई तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा.

ग्रन्थ कैसा है और कितने परिश्रम से लिखा गया है, इस पर कुछ भी कहने का अधिकार मुझे नहीं. इस बातको पाठक स्वयं देखलें. मैं यहां केवल उन ग्रन्थों का नाम निर्देश करना चाहता हूं, जिनसे मुझे इस ग्रन्थ को लिखने में बडी सहायता मिली. साथही में मैं उनके लेखकों के प्रतिभी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं. मुझे निम्न लिखित ग्रन्थों से बडी सहायता मिली है.

अंग्रेजी.

(1) Hindu Superiority by Harbilas. Sarda.

(2) India: What can it teach us by Max-Mullar.

(3) Public administration in Ancient India by Banerjee.

(4) Laws of Manu by B. Bhagwandas, M.A.

(5) Background of Hindu Sociology by BenoyKumar Sarkar.

(6) Inter-State Relations in Ancient India by Narendra Nath Law.

(7) Ancient Hindu Polity by N. Law.

(8) Corporate Life in Ancient India by Muzumdar.

(9) Local Self-Government in Ancient India by Radhakamal Mukerjee.

(10) Self-Government in India by Pawgee.

(11) History of Sanscrit Literature by Prof. Macdonell.

(12) Wilson's Essay's on Sanscrit Literature.

(13) Indian Literature by Weber.

(14) History of Antiquity.

(15) History of Indian Shipping & Maritime by Mukerjee.

(16) Education in Ancient India by Tarachand M. A.

(17) Education in Ancient India by Mukarjee.

(18) Hindu Achievements in exact Science by sarkar.

(19) History of Astronomy by Bryant.

(20) Surya-siddhant by Burgess.

(21) History of Mathematics by Cajori

(21) Algebra with Arithmetic and Mensuration by Colebrooke.

(22) The Music of Hindostan by Fort.

(23) History of Medicine by Garrison.

(24) History of Aryan Medical Science by Gondal.

(25) Medicine in Ancient India by Hoernle.

(26) Antiquity of Hindu Medicine.

(27) The Positive Sciences of the Ancient Hindus by Seal.

(28) The Vedic Fathers of Geology by Pavgee

(29) The Aryavartic Home and its Arctic Colonies.

संस्कृत ग्रन्थ.

(१) मनुस्मृति, (२) शुक्रनीति, (३) अग्निपुराण (४) अर्थशास्त्र (कौटिल्य), (५) महाभारत (शान्तिपर्व)

वैदिक साहित्य.

(१) यजुर्वेद भाषा-भाष्य, (२) अथर्ववेद, हिन्दीभाषा टीका.

मराठी.

(१) भारतीय साम्राज्य, श्रीयुत पावगी कृत.

(२) ज्योतिषशास्त्राचा इतिहास, रा. दीक्षित कृत.

(३) महाभारत उपसंहार श्रीयुत रा. ब. वैद्य कृत.

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त मुझे मराठी के सुप्रसिद्ध मासिकपत्र "विविधज्ञानविस्तार" से कुछ सहायता मिली है.

हिन्दी.

१ प्रवासी भारतवासी श्रीयुत बनारसीदासजी कृत इसके अतिरिक्त मुझे श्रीयुत कन्नोमलजी एम. ए. के "सरस्वती" में प्रकाशित एक लेख से सहायता मिली है. प्रो० बालकृष्णाजी के

"वैदिक स्वराज्य" से भी मुझे अच्छी सहायता मिली है.

इस प्रकार और भी मुझे कई ग्रन्थों से सहायता मिली है. मैंने इन सब ग्रन्थों का सार इसमें भरने का प्रयत्न किया है.

स्थानीय महाराजा होलकर्स हिन्दी कमेटी ने मुझे उचित प्रोत्साहन देकर इसे प्रकाशित किया है. अतएव उसे मैं धन्यवाद देता हूं.

अस्वास्थ्य के कारण मैं प्रूफ अच्छी तरह नहीं देख सका, इसलिये कहीं कहीं त्रुटियां दिखाई पडती हैं. अगले संस्करण में उनका यथाशक्य सुधार कर दिया जायगा.

इन्दौर के अत्यन्त गम्भीर विद्वान् अनेक भाषाभिज्ञ प्रो० जौहरी साहब ने इस ग्रन्थ का परिचय लिखने की कृपा की है एतदर्थ उन्हें हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूं.

विनीत.

सुखसम्पत्तिराय भण्डारी.

ग्रन्थ-परिचय.

इस ग्रन्थके लेखक महाशय ने सतत परिश्रम और गम्भीर अन्वेषण के पश्चात् इस पुस्तक की रचना की है। पुस्तक अपने ढंग की अद्वितीय है। अब तक हिन्दी साहित्यमें ऐसी पुस्तकों का प्रायः अभाव था, इसलिए इसके लेखक श्रीयुत सुखसम्पत्तिराय भण्डारी और भी अधिक धन्यवाद के पात्र हैं। इस पुस्तक में कई ग्रन्थों की छानबीन के पश्चात् भारत के प्राचीन इतिहास पर उज्ज्वल प्रकाश डाला गया है। भारत की आधुनिक अधोगति को देखकर, किसी के भी हृदय में यह कल्पना नहीं आतकती कि वह किसी समय सारे संसारका गुरु रहा होगा। इसी विषय को अनेक अनुसन्धानों के पाश्चात् लेखक महाशय ने सप्रमाण प्रतिपादित किया है. उन्होंने प्रमाणित किया है कि भारतवर्ष प्राचीन काल में सारे संसार का गुरु था, जैसा कि, वे इस पुस्तक को प्रारंभ करते हुए सातवें पृष्ठ में लिखते हैं—

" अगले अध्यायों के पढने से पाठकों को मालूम होगा कि तत्वज्ञान, दर्शनशास्त्र, साहित्य, व्यापार, कलाकौशल्य, उद्योग धंधों में भारतने कितनी कल्पनातीत उन्नति की थी, और किस प्रकार हमारे यहां से पाश्चात्यों ने ज्ञान प्राप्त किया। "

वास्तव में लेखक ने इस बहुमूल्य ग्रन्थ की रचना कर, हिन्दी संसार का बड़ा उपकार किया। इस पुस्तक को पढते २ पाठकों की अन्तर्दृष्टि के सन्मुख प्राचीन भव्य भारत का एक

तेजोमय चित्र खिंच जायगा। उनकी स्वदेश प्रेम सहसा जागृत हो उठेगा और मातृभूमि पर प्रगाढ़ प्रेम प्रस्फुटित होवेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, ऐसी पुस्तकों की रचना से भारत में जागृति पैदा होगी, और भारत सन्तान अपनी मातृभूमि को पुनः प्राचीन दशा में लाने का उद्योग करेगी। संसार के और २ देशों के साथ भारत में भी जागृति की लहर आने लगी है, वह अपनी घोर कुम्भकर्णी निद्रा से सजग हो उठा है। उन्नति की इस घुड़दौड़ में अब उसका पीछे रहना बड़ा लज्जाजनक होगा। केवल अतीत के महत्व से ही सन्तुष्ट होना पर्य्याप्त नहीं। आधुनिक सभ्यता के संग्राम में प्रत्येक भारतवासी सम्मिलित हो, और अपने इस देशको फिर ऊंची स्थिति में पहुंचाये, यही इस पुस्तक के लेखक की प्रार्थना है, जिसका मैं भी अनुमोदन करता हूँ।

भारतभूमि अपने आसपास के देशों की जननी है, जैसा के लेखक ने "हिन्दुओं के उपनिवेश" नामक अध्याय में सप्रमाण प्रतिपादित किया है। भारतवर्ष सूर्य्य की तरह स्वयं अपनी ही ज्योति से उज्ज्वल है, नाकि चन्द्रमा के समान परकीय ज्योतिसे यहींसे सभ्यताकी किरणें प्रस्फुटित हुईं, जिन्होंने संसारको प्रकाशमान किया।

१९२१ के अप्रैल मास के माडर्न-रिव्यू में क्रिस्टियाना की यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर स्टेन कोनौ ने एक लेख लिखा है। उसमें इण्डोसिथियन के विषय में अन्वेषण करते हुए वे कहते हैं, "मध्यएशिया की सभ्यता भारतवर्ष से ही उत्पन्न हुई है। यद्यपि उसमें चीन और फारस का भी कुछ २ प्रभाव है, पर तो भी

"Philosophy of Gita begins, where the English Philosophy ends" अर्थात् जहां अंग्रेजी तत्त्वज्ञान का अन्त होता है, वहां गीता के तत्त्वज्ञान का आरंभ होता है। पण्डित मैक्समूलर ने भी भारतवर्ष को तत्त्वज्ञानियों का राष्ट्र (Nation of Philosophers) कहा है। सुप्रसिद्ध अमेरिकन अध्यात्मशास्त्रवेत्ता एमर्सन ने भारत के तत्त्वज्ञान के प्रकाश को पश्चिम में फैलने की आकांक्षा प्रकट करते हुए कहा है:—

"I look for the hour when that supreme beauty which ravished the souls of those Eastern men and through their lips spoke oracles to all times, shall speak in the West also मैं उस घडी की प्रतीक्षा कर रहा हूं कि जब कि वह परमात्म ज्योति पश्चिम में भी चमकेगी कि जो पूर्व के लोगों की आत्माओं को परमात्मा में निमग्न करती और जिससे हर घडी उनके ओठ देववाणी बोलते हैं।" सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शोपनहोर ने अपनी Welt als Wille Vorstellung नामक जर्मन ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है:—

"In the whole world there is no study, so beneficial and so elevating as that of the Upnishadas. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death अर्थात् समग्र संसार में उपनिषदों के समान और कोई अध्ययन लाभकारी और उन्नतिप्रद नहीं है। यह मेरे जीवन की शांति रही है और आगे भी यह मेरे जीवन की शान्ति रहेगा। सुप्रसिद्ध विकासवादी हक्सले अपने Science & Hebrew Tradition में कहते हैं :—

" To say nothing of Indian sages to whom Evolution was a familiar notion ages before, Paul of Tarsus was born अर्थात् टार्सस पाल के जन्म के पूर्व ही पूर्वकाल में उत्क्रान्ति क्रम विकास को भारतीय तत्वज्ञ भलीभांति जानते थे—इसके लिये कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। जॉन स्टर्जना अपनी Wisdom of the Ancient India में लिखते हैं:—

" Remarkable is the precision with which the immortality of the soul and its existance when separate from the body, is expressed in the sacred writings of the Hindus, and not merely as philosophical proposition but as a doctrine of religion. In this respect the Hindus were far in advance of the philosophers of Greece and Rome who considered the immortality of the soul as problematical अर्थात् हिंदुओं के पवित्र ग्रन्थों में आत्मा का अमरत्व एवं शरीर से अलग होने पर उसका अस्तित्व असाधारण विशुद्धताने केवल तत्वज्ञान की रीति ही से नहीं समझाया गया है बल्कि धार्मिक तत्वों से भी समझाया गया है। इस बात में हिन्दू लोग ग्रीस और रोमदेशों के तत्वज्ञानियों से बहुत बढ़े चढ़े थे जोकि आत्मा के अमरत्व को अनिश्चित मानते थे. " सुप्रसिद्ध जर्मन पण्डित शेगेल का कथन है:—

"Even the lofties philosophy of the Europeans, their idealism, appears in comparison with the abundant light and vigour of oriental idealism like a feeble promethean speak in the full flood of

heavenly glory of the noon-day sun-faltering & feeble and ever ready to be extinguished अर्थात् युरोपियनों का सर्वोच्च तत्त्वज्ञान, उनका भाव-प्राधान्यवाद पौर्वात्यों के भाव-प्राधान्यवाद [Idealism] के विपुल प्रकाश और शक्ति के सामने उसी प्रकार तुच्छ है, जैसे दोपहर के सूर्य के स्वर्गीय प्रकाश के सामने आग की जरासी और कमजोर चिनगारी"। प्रोफेसर वेबर साहब ने अपनी History of Sanskrit literature में हिन्दू तत्त्वज्ञान की–उसकी विशाल गहनता की–उसकी सर्वोच्चता की–बड़ी प्रशंसा की है। आप हिन्दू तत्वज्ञान के विषय में लिखते हैं:–

"It is in this field and that of grammer that the Indian mind attained the highest pitch of its marvellous fertility" अर्थात् इस (तत्त्वज्ञान) क्षेत्रमें और व्याकरण में हिन्दुओं ने अपनी आश्चर्यकारक उत्पादक बुद्धि की सर्वोच्चता प्राप्त की है।

बात यह है कि हमारा तत्त्वज्ञान संसार के तत्वज्ञान का शिरोमणि है। हमारे पूर्व ऋषियों ने अपनी विकास पाई हुई आत्मशक्ति के द्वारा उन दिव्य और महान् सिद्धान्तों का आविष्कार किया था, जिनके सामने आज भी पाश्चात्य तत्वज्ञानी बड़े पूज्य भाव से अपना मस्तक झुकाते हैं। हमारे प्राचीन भारत के तत्वज्ञान में सारे संसार के तत्वज्ञान के तत्व आगये हैं। और इस बात को पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। डॉक्टर एलेक्झेन्डर हिन्दू तत्वज्ञान की व्यापकता और विशालता का जिक्र करते हुए लिखते हैं:—

"Hindu philosophy was so comprehensive that counterparts of all systems of philosophy

were to be found in it" अर्थात् हिन्दू तत्त्वज्ञान इतना विशाल है कि सब प्रकार के युरोपियन तत्त्वज्ञान के प्रतिरूप इसमें मिलते हैं । प्रोफेसर गोल्डस्टकर (Goldstucker) उपनिषदों में सब प्रकार के तत्वज्ञानके बीज पाते हैं।" इस प्रकार कई पाश्चात्य विद्वानों ने हिन्दू तत्वज्ञान की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । उन्होंने यह स्पष्टतया स्वीकार किया है कि पाश्चात्य तत्वज्ञान का मूल हिन्दू तत्वज्ञान में है । बहुतसे सृष्टि के तत्व, जो आधुनिक विज्ञान ने मालूम किये हैं, वे हमारे प्राचीन ऋषियों को मालूम थे । सर विलियम जोन्स महाशय तो यहांतक स्वीकार करते हैं कि " अमर कीर्ति न्यूटन के यशको बिल्कुल कम न करते हुए मुझे यह कहना पडता है कि न्यूटन के आविष्कृत, सब तत्व हिन्दू तत्वज्ञान में मिलते हैं ।"

हिन्दू तत्वज्ञान हर तरह से पाश्चात्य तत्वज्ञान से श्रेष्ठतम है, इस बातको भी पाश्चात्य विद्वान् मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। श्रीमती एनी बेझेन्ट कहती है:—

" Indian Psychology is a far more perfect science than European Psychology अर्थात् हिन्दू मानसशास्त्र युरोपियन मानसशास्त्र से कई गुना अधिक पूर्ण विज्ञान है ।"

Count Bjornstjerna कहते हैं:—

" The Hindus were far in advance of the philosophers of the Greece & Rome who considered the immorality of the soul as problematical अर्थात् हिन्दू ग्रीस और रोमके तत्वज्ञानियों से, जोकि आत्मा के अमरत्व को अनिश्चित मानते थे, बहुत आगे बढे हुए थे । "

प्राचीन काल में संसार के दूर दूर के राष्ट्रों में भारत के तत्वज्ञान की विमल कीर्ति इतनी फैली हुई थी कि हजारों कोसों की दूरी से बड़े २ विद्वान् तत्वज्ञान और अध्यात्म विज्ञान के गहरे समुद्र में आनंद स्नान करने के लिये यहां आते थे। ग्रीक का महान् तत्वज्ञानी पायथागोरस हिन्दू तत्वज्ञान का अध्ययन करने के लिये यहां आया था और आत्मा के आवागमन का सिद्धान्त वह यहां से ले गया था। डॉक्टर एनफिल अपनी History of Philosophy में लिखते हैं:—

"We find that it (India) was visited for the purpose of acquiring knowledge by Pythagoras, Anaxarches, Pyrrho, and others who afterwards became eminent philosophers in Greece अर्थात् हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में पायथागोरस, Anaxarches और पायरो (Pyrrho) ज्ञान प्राप्त करने के लिये आये थे। ये महानुभाव ग्रीस के नामाङ्कित तत्वज्ञानी हो गये।" इसी ग्रन्थ में आगे चलकर लेखक महाशय कहते हैं:—

"Some of the doctrines of the Greeks concerning nature are said to have been derived from the Indians" अर्थात् प्रकृति सम्बन्धी ग्रीक लोगों के कुछ सिद्धान्त, कहा जाता है, हिन्दुओं से लिये गये। एक ब्रिटिश कौउन्ट का कथन है:—

"Pythogoras and Plato hold the same doctrine, that of Pythagoras being probably derived from India whither he travelled to complete his philosophical studies अर्थात् प्लेटो और पायथागोरस एक ही

सिद्धान्त को मानते हैं, जोकि हिन्दुस्तान से लिया गया है। पायथागोरस ने अपना तत्वज्ञान का अभ्यास पूर्ण करने के लिये हिन्दुस्तान में सफर की थी।" प्रोफेसर शेगेल का कथन है:—

"The doctrine of transmigration of souls was indigenous to India and was brought into Greece by Pythagoras अर्थात् पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुस्तान का है और वह ग्रीस में पायथागोरस के द्वारा लाया गया।

जब ग्रीस में तत्वज्ञान का विकास होरहा था, जब ग्रीक तत्वज्ञान में युरोप का शिरोमणि माना जारहा था, तब भारतवर्ष ग्रीस का गुरु माना जाता था और उसवक्त तत्वज्ञान का मूल और निर्मल झरना चहुंओर हिन्दुस्तान ही से प्रवाहित होता था। ईसा की दूसरी शताब्दितक हिन्दू तत्वज्ञान की, यूरोप में, बडी कीर्ति फैली हुई थी। यहांतक कि ग्रीस के दो मशहूर तत्वज्ञानी अपनी सब मिल्कियत अपने एक मित्र को सौंपकर तत्वज्ञान का अध्ययन करने के लिये हिन्दुस्तान आये थे। वे ब्राह्मणों के मध्य रहकर अपने जीवन का शेष अंश बिताना चाहते थे।

मि. प्रिन्सेप कहते हैं:—

"The fact however that he (Pythogoras) derived his doctrines from India is very generally admitted अर्थात् यह बात बहुतही सर्व साधारण तौर से स्वीकृत की जाती है कि पायथागोरस ने अपने सिद्धान्त हिन्दुस्तान से लिये थे।" सर मॉनियर विलियम ने भी यह बात मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है कि उपरोक्त दोनों तत्वज्ञानी अपने तत्वज्ञान के लिये हिन्दुओं के ऋणी हैं। एलेक्झण्डर पॉलिस्टर का

कथन है कि Pyrrhon महान् सिकन्दर बादशाह के साथ भारत गया था और उसका संशयवाद (Scepticism) बौद्ध धर्म से लिया गया है।" रेव्हेरण्ड वार्ड कहते हैं यह बात निश्चित है कि पायथागोरस भारत गया था और वह गौतम का समकालीन था। प्रोफेसर मेकडॉनल्ड कहते हैं कि:-

"According to Greek tradition Thales, Empedocles, Anaxagoras, Democritus and others undertook journeys to Oriental countries in order to study philosophy अर्थात् ग्रीक दन्तकथाओं के अनुसार थेल्स, एम्पिडोकल्स, एनेक्झेगोरस और डिमाक्रीटस ने तत्वज्ञान का अध्ययन करने के लिये पूर्वीय देशों में सफर की थी। प्रोफेसर मेकडॉनल्ड कहते हैं कि दूसरी और तीसरी शताब्दि में क्रिश्चियन संशयवाद (Gnosticism) पर हिन्दू तत्वज्ञान का प्रभाव अवश्य गिरा था। काउन्ट Bjornstjerna कहते हैं कि ग्रीक तत्वज्ञान पूर्ण रूप से हिन्दू तत्वज्ञान का ऋणी है हिन्दू और ग्रीक तत्वज्ञान में बहुत समता पाई जाती है।" हिन्दू लोग तत्वज्ञान में ग्रीकों से बहुत चढ़े बढ़े थे और इससे हिन्दू ग्रीकों के गुरू थे, न कि शिष्य। मि. काल्ब्रुक फरमाते हैं:-

"The Hindus were in this respect the teachers and not the learners अर्थात् इस बात में हिन्दू गुरू थे, न कि शिष्य।" एक फ्रेञ्च पण्डित का कथन है:-

The traces of Hindu philosophy which appear at each step in the doctrines professed by the illustrious men of Greece abundantly prove that it was from the East came their science, and that

many of them no doubt drank deeply at the principal fountain" अर्थात् इसके नामांकित महानुभावों के द्वारा प्रकट किये गये सिद्धान्तों में पद पद पर हिन्दू तत्वज्ञान के चिन्ह मिलते हैं। उनसे यह बात सिद्ध होती है कि उनकी विद्या पूर्वीय देशों से आई थी और उनमें से बहुतों ने निःसंदेह खास झरने से तत्वज्ञान का जलामृत पान किया था"।

इस प्रकार सैंकडों पाश्चात्य विद्वानों ने हमारे हिन्दू तत्वज्ञान की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और उन्होंने यह स्वीकार किया है कि तत्वज्ञान के दिव्य जल का झरना यहीं से सारे संसार में प्रवाहित हुआ और आत्मा को परम शान्ति और परम विकास की दिव्य अवस्था पर पहुंचानेवाले बडे बडे सिद्धान्तों के मूल आविष्कार यहीं हुए। संसार में सबसे पहले सभ्यता का प्रकाश यहीं से फैला और यही दिव्य भूमि संसार की सबसे पहली ज्ञानदात्री है।

प्राचीन भारत का शासन विभाग।

अंग्रेजी के संसार प्रख्यात् लेखक और वक्ता एडमण्ड बर्क का कथन है कि संसार का कोई देश किसी बुरे शासन की आधीनता में उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता। किसी देशकी सभ्यता तबतक विकसित नहीं हो सकती, जब तक कि उसे वहां की सरकार की योग्य अनुकूलता प्राप्त न हो। बर्क महोदय का यह कथन कितना सत्य है, इसकी साक्षी संसार का इतिहास दे रहा है। अगर किसी देश ने किसी समय में प्रशंसनीय उन्नति प्राप्त की है और संसार के सामने उसने गौरवपूर्ण होकर अपना मस्तक ऊँचा उठाया है, तो यह एक निश्चित बात है कि उस देश की सरकार ने उस समय में उस देश की उन्नति में तथा सभ्यता के विकास में पूर्ण सहयोग दिया होगा। हां, अन्य भी कुछ साधन हैं, जिनसे देश उन्नति के पथपर आगे बढ़कर, अपनी सभ्यता का विकास करता है तथा अपनी गौरव वृद्धि करता है, पर सरकार की अनुकूलता तथा सहायता इन सब में मुख्य है। क्योंकि बिना सरकार की सहायता तथा अनुकूलता के देश की उन्नति तथा विकास में जो बाधाएँ उपस्थित होती हैं उनके प्रत्यक्ष उदाहरण भी हम दूर क्यों खास इस भारत में और अन्यत्र कई जगह देख रहे हैं। हम यह भी देख रहे हैं कि किसी अवनतिगत शासन में प्रजा के उठते हुए उन्नति और स्वाधीनता के भाव किस बुरी तरह से दबाये जाते हैं और

किस तरह प्रजा के भावों को कुचलकर उसे ऊँचा उठाने की बजाय अन्धेरे गड्ढे में गिराया जाता है। हां, यह अवश्य होता है कि मानवी हृदय में उठनेवाले स्वाधीनता और समानता के इन भावों को, चाहे कोई सरकार कुछ समय के लिये अपनी अत्याचारपूर्ण नीति से दबा दे, पर वह इन भावों का समूल नाश नहीं कर सकती। मानवी अंतःकरण में बारम्बार दबाये जाने पर भी, किसी विशेष परिस्थिति के कारण, ये भाव भीतरही भीतर इकठे होते रहते हैं और जब इन्हें अपने आविष्करण का मार्ग नहीं मिलता, तब ये स्फोट की तरह फूट निकलते हैं और वे पहले मानसिक क्रान्ति को उत्पन्न कर फिर उस भीषण क्रान्ति ज्वाला को उत्पन्न करते हैं, जिसमें पुरानी शासन पद्धति की आहुति पडकर किसी ऐसी शासन पद्धति का जन्म होता है, जो मानवी स्वाधीनता और समानता की रक्षक होती है और जिसमें मानवी भावों की रुख के अनुसार कार्य किया जाता है। फिर एक नया युग शुरू होता है और इसमें मानवी स्वाधीनता के नगारे जोर से बजने लगते हैं. इसमें हरएक मनुष्य को चाहे वह उच्च कुल में पैदा हुआ हो या नीच कुल में, अपनी आत्मा के पूर्ण आविष्करण करने का मौका मिलता है और उसका दृष्टि-बिन्दु हमेशा "उन्नति" रहता है। एक नीच कुल में जन्मा हुआ बालक भी यह समझने लगता है कि पूर्ण योग्यता प्राप्त करने पर मैं इस देश का बडा से बडा प्रेसिडेन्ट हो सकता हूं। महत्वाकांक्षा की यह दिव्य भावना देश के प्रत्येक होनहार नवयुवक के हृदय में एक ईश्वरीय शक्ति का संचार करती है और इससे देश में नयी जान पडती है। इससे सभ्यता का आश्चर्य-कारक विकास होता है। मानवी आत्मा की उन्नति के पथ पर पहुंचानेवाले साधनों का बहुल प्रादुर्भाव होता है। इससे साहित्य,

विज्ञान, दर्शनशास्त्र तथा अनेक कला कौशल्य की अपूर्व वृद्धि होती है और वह देश संसार का नेता बनने का अभिमानपूर्ण गौरव प्राप्त कर सकता है। हमारे कहने का मतलब यह है कि जहां हमें यह मालूम हो कि अमुक देश अमुक समय में सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान होकर जगद्‌गुरु बनने का सौभाग्य प्राप्त किये हुए था, तो हमें यह तत्काल जान लेना चाहिये कि उस समय में उस देश की शासन पद्धति भी अत्यन्त श्रेष्ठ, उदार और दिव्य रही होगी। क्योंकि जबतक किसी देश में शान्ति न हो, लोगों के अंतःकरण निर्व्याकुल न हों तथा योग्य मनुष्यों को अपनी बुद्धि और प्रतिभा विकसित करने के अनकूल साधन न मिलें, तबतक ऊँचे २ विचारों का, तत्वों का तथा आविष्कारों का जन्म नहीं हो सकता। सम्भव है कि किसी समय इस देश में अत्याचारपूर्ण शासन रहा हो, पर जिस वक्त इस देश से संसार को प्रकाशित करनेवाले दिव्य ज्ञान दीपकों का आविष्कार हुआ हो उस समय तो देश की शासन पद्धति अवश्यही उत्कृष्ट और दिव्य रही होगी।

हम अपने इसी तत्व को भारतवर्ष पर लगाना चाहते हैं। यह बात तो प्रायः पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि प्राचीन काल में एक समय भारतवर्ष की सभ्यता संसार की सिरमौर थी। भारत ने अपनी दिव्य ज्ञानज्योति से अंधकार में गिरे हुए संसार के कई देशों को प्रकाश बतलाया था। यहां तत्वज्ञान के उन ऊँचे सिद्धान्तों का जन्म हुआ था, जिन पर आज घमण्डी पाश्चात्य संसार भी लट्टू है और मुक्त कंठ से वह यह स्वीकार कर रहा है कि जहां हमारे तत्वज्ञान का अन्त होता है, वहां भारतीय तत्वज्ञान का आरम्भ होता है। जब हमारे अभिमानी यूरोपियन बन्धु वृक्षोंके पत्तों से अपने शरीर को ढकते थे और

जंगली मनुष्यों की तरह इधर उधर मारे मारे घुमने फिरते थे, तब हमारे भारतवर्ष में ऐसे २ दिव्य सिद्धान्तों का, ऐसे ऐसे आविष्कारों का विकास होरहा था जिसके लिये हमेंही नहीं, पर सारी मनुष्य जाति को अभिमान होना चाहिये। यहां इन बातों का विशेष विवेचन करना असङ्गत होगा। हम एक जुदे अध्याय में प्रबल प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध करेंगे कि किस प्रकार भारतवर्ष एक समय जगद्गुरु रहा है, और सारे संसार को किस प्रकार इसने प्रकाश देकर सभ्यता का पाठ पढ़ाया है।

हम कुछ विषयान्तर होगये हैं, पर उसमें हमारा कुछ मतलब है। हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जब भारत की सभ्यता प्राचीन काल में इतने ऊँचे शिखर पर थी, तो यह आवश्यक बात है कि उसकी शासन पद्धति भी अत्यन्त उच्च श्रेणीपर पहुँची हुई होनी चाहिये। क्योंकि बुरी शासन पद्धति में किसी देश की सभ्यता का इतने ऊँचे शिखर पर चढ जाना प्रायः असम्भव है। भारत की प्राचीन सभ्यता ही उसकी श्रेष्ठ और उदार शासन प्रणाली की सूचक है। हां, हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि भारत में प्राचीन काल में सदा सर्वदा और सर्वत्र उदार शासन प्रणाली रही हो, पर हम यह निश्चय के साथ कह सकते हैं कि जिस काल में भारतीय सभ्यता सर्वोच्च शिखर पर थी और संसार यहां से प्रकाश ग्रहण कर रहा था, उस समय यहां की शासन प्रणाली अत्यन्त उदार रही होगी।

इस वक्त जब कि सारे संसार में मानवी अधिकारों और स्वभाग्य निर्णय की दुंदुभी बज रही है, हमसे कितने ही पाश्चात्य सज्जन कहते हैं कि भाई! तुह्मारे लिये लोक-सत्तात्मक राज्य

बिलकुल नयी चीज है। तुमने इस स्वतंत्र संस्था का ज्ञान अंग्रेजों से प्राप्त किया है । तुम कभी स्वतंत्र नहीं रहे । तुम पर सदा एकतंत्री राज्य रहा है । तुम्हारे यहां " राजा करे सो न्याय और पासा पडे सो दांव " वाली कहावत चरितार्थ हुई है । तुममें लोकसत्तात्मक राज्य के वंशपरंपरागत भाव नहीं हैं। इधर तो हमारे ये पाश्चात्य बंधु ऐसे उद्गार निकालकर अपनी सङ्कीर्णता को दिखलाते हैं और उधर यह भी प्रगट करते हैं कि उन्हें भारतीय इतिहास का तनिक भी ज्ञान नहीं है। हम यह मानते हैं कि पाश्चात्य जातियों के सह-वास से तथा स्वाधीनता के भावों से भरे हुए अंग्रेजी साहित्य के पढने से हमारी वर्तमान राजनैतिक जागृति में विशेष सहायता मिली है, पर हम यह मानने के लिये कभी तैयार नहीं हैं कि प्रतिनिधि राज्य तथा लोकसत्ता हमारे लिये बिलकुल नयी चीज है और हमारे गौरवशाली पूर्वज इन तत्वों से अनभिज्ञ थे। आज हम इस लेख में यह दिखाना चाहते हैं कि जब संसार के प्रायः सब देश घोर अंधकार में पडे हुए थे; जब वे पशुओंकी तरह अपना जीवन बिताते थे, उस समय भी भारत में ऊँची श्रेणी की उदार शासन प्रणाली थी । उस समय भी प्रजातन्त्र (democracy) के भाव प्रचलित थे। उस समय भी रिपाब्लिक थी । अमेरिका में जिस तरह प्रेसीडेन्ट चुना जाता है, उसी तरह प्राचीन भारत में भी लोगों के द्वारा राजा चुनाजाता था । राजाकी शक्तियां प्रजाकी शक्तियों से मर्यादित थीं । प्रजाके बुद्धिमान् प्रतिनिधियों की सलाह से उसे चलना पडता था। पार्लियामेंट की तरह बुद्धिमान् और विद्वान् लोगों की सभाएं थीं, जो राज्य-कार्यों को सञ्चालित करती थीं । उस समय भी राज्य के भिन्न २ विभाग थे। इस प्रकार की अनेक बातें हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से मालूम होता हैं ।

हम पहले वैदिक काल को लेंगे। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार वैदिक काल पांच हजार वर्ष के पहले का समय है। लोकमान्य तिलक ने अपने "ओरायन" प्रभृति ग्रन्थों में इस काल को दस हजार वर्षों के ऊपर का माना है। पूने के श्रीयुत पावगी ने "The Vedic fathers of Geology" तथा "The Aryavartic Home and its Arctic Colonies" नामक ग्रन्थों में इस काल को ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा और भी प्राचीनतम सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हम यहां वैदिक काल निर्णय की झंझट में विशेष नहीं गिरना चाहते। हमारा आशय केवल इतनाही है कि अगर हम पाश्चात्य विद्वानों ही के कथन को सत्यके रूप में ले लें तोभी वैदिककाल एक अत्यन्त प्राचीन काल गिना जायगा। उस काल में आधुनिक सभ्य कहलानेवाली जातियां जंगली जानवरों की तरह जंगलों में घूमा करती थीं। जाति या राष्ट्र के रूप में उनका कोई अस्तित्व ही नहीं था। उसवक्त भी हमारे भारतवर्ष की सभ्यता, उस समय की परिस्थिति को देखते हुए, अत्यन्त उच्च आसन पर आरूढ थी। उस समय भी यहां प्रजातंत्र राज्य थे और राजा को चुनने की तथा नालायक निकलजाने पर उसे राज्यच्युत करने की प्रथा जारी थी। अथर्ववेद में ऐसे कई मन्त्र आये हैं, जिनसे यह साफ प्रकट होता है कि उस समय राजा प्रजा के द्वारा निर्वाचित किये जाते थे। हम कुछ मन्त्र लिखते हैं:—

"इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि संह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
सत्वायमह्वत स्वे सधस्थे सदेवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः॥ ३, ४, ६.

अर्थात् हे राजन्! मनुष्य–जनता के सामने आइये। आप अपने निर्वाचन करनेवालों के अनुकूल हैं। इस पुरुष (पुरोहित) ने

आपको आपके योग्य स्थान पर यह कह कर बुलाया है कि " इसे देश की स्तुति करने दो " और जाति (विशः) को भी सुमार्ग पर चलाने दो । "

त्वां विशो वृणुता राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवाः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततोन उग्रो विभजा वसुनी ॥३,४
अच्छात्वायन्तु हविनःसजाता अग्निर्दूतो अजिरःसंचरातै ।
जायाः पुत्राः समनसोभवन्तुबहुबलिं प्रतिपध्यासाउग्रः ॥

इन मन्त्रों का आशय यह है " हे राजा ! राज्यकार्य चलाने के लिये प्रजा तुझे निर्वाचित करे । इन पांचों प्रकाशयुक्त दिशाओं में प्रजा तुझे निर्वाचित करे । रा के श्रेष्ठ सिंहासन का आश्रय लेकर तू हम लोगों में उग्र होते हुएभी धनकी बांट किया कर । तेरे अपने देश निवासी ही तुझे बुलाते हुऐ तेरे पास आवें । तेरे साथ चतुर तेजयुक्त एक दूत हो । राष्ट्र में जितनी स्त्रियां और उनके पुत्र हों वे तेरी ओर मित्रभाव से देखें, तबही तू उग्र होकर बहुबलि ग्रहण करेगा । "

क्या इन मन्त्रों में प्रजातन्त्र के भाव नहीं हैं ? उपरोक्त मन्त्र क्या सूचित करता है । वह राजा को निर्वाचित होने का आदेश करता ही है । पर इसके साथही वह सारी प्रजाजन को यहांतक कि स्त्रियां और बालकों तक को प्रसन्न रखने का राजा को आदेश करता है । कहिये पांच हजार वर्ष पहले भी भारतवर्ष ने प्रजातन्त्र का कितना दिव्य आदर्श प्रकट किया था । फिरदेखिये ।

आत्वाहार्षमन्तर्भध्रुवास्तिष्ठा विचाचलत् ।
विशस्त्वासर्वा वाञ्छन्तु मात्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥

अर्थात् "यहां तू है; मैंने तुझे चुना है, स्थिरता और दृढतापूर्वक खडा रह, सब श्रेणियों के लोग तेरी इच्छा करें। तेरा राजत्व तुझसे भ्रष्ट न हो।" इसी अथर्ववेद में पदच्युत राजा के पुनर्निर्वाचन का भी उल्लेख आया है। वह मन्त्र इस प्रकार है:—

" ह्वयन्तु त्वां प्रतिजनाः प्रतिमित्रा अवृषत्।
इन्द्राग्नि विश्वेदेवास्ते विशिक्षेम मदीधरन्॥

अथर्ववेद ३।३।६

इसका अर्थ यह है "(हे पुनः निर्वाचितराजा) तेरे विरुद्ध पक्ष के लोग भी तेरी सहायता करें। तेरे मित्रोंने तुझे निर्वाचित किया है। इन्द्र, अग्नि और अन्य देवताओंने तुझे घर अर्थात् प्रजाही में रखा है।" ग्रिफिथसाहब ने इस मन्त्र के आधे भाग का यह अर्थ किया है "तेरे प्रतिपक्षी तुझे फिर स्वीकार करें, तेरे मित्रों ने तुझे फिर निर्वाचित किया है।"

इस प्रकार के कई मन्त्र अथर्ववेद में मिलते हैं जिनमें प्रजा के द्वारा राजा के निर्वाचित होने का उल्लेख है। एक तरह से देखा जावे तो अथर्ववेद के काल में राजा आजकल के प्रेसिडेण्ट की तरह होता था। उसे प्रजा ही चुनती थी और प्रजा ही निकाल सकती है। इन मन्त्रों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि जिस प्रकार राजा को निर्वाचित करने का प्रजा को अधिकार था, वैसे ही उसे शासनच्युत करने का प्रजा को अधिकार था। इसके साथ साथ वैदिक मन्त्रों से यह भी पाया जाता है कि उस समय केवल वंशानुगत राज्यकी प्रथा न थी। जो आदमी योग्य अनुभवी, विद्वान् बलवान् और सदाचारी होता था, वही प्रजा के द्वारा निर्वाचित किया जाता था। अलौकिक तेज, दिव्य प्रतिभा, तथा प्रशंसनीय

सद्गुण देखकर प्रजा राजा को चुनती थी। राजगद्दी पर बैठ जाने के बाद भी कोई अयोग्य और अत्याचारी निकल जाता तो प्रजा को यह अधिकार था कि वह उसे गद्दी से उतार दे। राजा को राज्याधिकार लेते समय इस आशय की पुरोहित से प्रतिज्ञा लेना पडती थी कि " मैं नियमानुसार शासन करूंगा। यदि नहीं करूं तो आप मुझे सब प्रकार के दण्ड दे सकते हैं। मेरी निंदा व प्रशंसा, पुत्र कलत्र और जीवनतक तुम्हारे हाथ है। तुम्हें अधिकार है कि यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करूं और स्वेच्छाचारी होकर प्रजा को हानि पहुंचाऊं व उसके प्रति द्रोह करूं तो तुम मुझे अपने प्रिय परिजनों से अलग कर सकते हो, मुझे बन्दीगृह में बन्द कर सकते हो तथा मेरे प्राण ले सकते हो। " यदि कोई राजा अपनी प्रतिज्ञा पालन न कर अन्याय और अधर्म करता तो उसके लिये दण्डविधि भी थी. शुक्राचार्य के शब्दों में वह इस प्रकार थी.

" गुणनीति बल द्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः ।
नृपो यदि भवेत् तन्तुत्यजेद्राष्ट्र विनाशकम् ॥

तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः ।
प्रकृत्यनुमतं कृत्वा स्थापयेद्राज्य गुप्तये ॥

अर्थात् जो राजा गुणों, नीति, राज्य प्रचलित नियमों और बलका शत्रु हो गया हो, जो अच्छे कुल में पैदा होकर भी अधार्मिक हो गया हो, उस विनाशक को राज्य से हटा देना चाहिये। उसके स्थानपर राष्ट्रकी रक्षा के लिये राजपुरोहित राजकर्मचारियों की मति लेकर उसके कुल में उत्पन्न हुए किन्तु गुणयुक्त संबंधी को अभिषिक्त करे। " इसी प्रकार मनुस्मृति में भी आदेश है:—

" मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयः त्यन वेक्षया।
सोऽचिराद् भृश्यते राज्याज्जीविञ्च स बान्धवः ॥

अर्थात् जो राजा मूर्खता तथा मोहवश होकर अपनी प्रजा को सताता है, वह शीघ्रही राज्य से च्युत किया जाता है और बन्धुओं सहित मृत्युलोक को प्राप्त होता है।"

इसी प्रकार राजा को उसके पापों के प्रायश्चित देने के अनेक विधान हमारे धर्मशास्त्रों में मिलते हैं। कई बातों में तो हमारे भारत के प्राचीन राजा महाराजाओं की शक्तियां आधुनिक युरोपीय देशों के सम्राटों से भी अधिक मर्यादित थीं। यहांतक कि कोई अपराध करने पर जो दण्ड साधारण मनुष्य को मिलता था, उससे भी अधिक राजा को मिलने का विधान है।

" कार्षापणं भवेद्दण्ड्य सहस्रमिति धारणा।
अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेयं भवति किल्बिषम् ॥

अर्थात् जिस अपराध में साधारण मनुष्यपर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध में राजा को सहस्र पैसे दण्ड होने चाहिये।

उपरोक्त अवतरणों से यह स्पष्टतया माळूम होता है कि मनुस्मृति के समयतक राजा, प्रजा का एक प्रतिनिधि मात्र समझा जाता था। उसकी शक्तियां अपरमित न थीं। वह मन मानी नहीं करसकता था। अगर वह दुर्गुणी व्यभिचारी, शराबखोर और अत्याचारी निकल जाता तो प्रजा उसे केवल गद्दी हीसे नहीं हटाती, पर उसे योग्य दण्ड भी देती थी।

कौन राजा श्रेष्ठ है.

हमने ऊपर जो वर्णन किया है, उससे यह स्पष्ट माळूम हुए बिना नहीं रह सकता कि राजा प्रजाके द्वारा निर्वाचित किये जाते

थे, राजा की शक्तियां प्रजाकी शक्तियों से बद्ध रहतीं थीं। प्रजाको जिस प्रकार राजा निर्वाचित करने का अधिकार था, वैसेही उसे च्युत करने का भी अधिकार था। अपराध करने पर राजा के बडप्पन का कोई ख्याल न कर, उसे मामूली आदमी से भी जियादा दण्ड दिया जाता था, पर यहां अब यह देखना है कि प्राचीन काल में राजाओं में किन २ गुणों का होना आवश्यक समझा जाता था। कौन राजा आदर्श समझा जाता था? हमारे स्मृतिकारों ने कहा है-

राजाको ज्ञान, कर्म और उपासना का ज्ञाता, दण्ड, नीति, न्याय, विद्या और आत्मविद्या में पठित, वार्तालाप में चतुर और जितेंद्रिय होना चाहिये। राजा ऐसा निष्पक्ष तथा धार्मिक हो कि प्रियसे प्रिय सम्बन्धी और मित्र को भी दंड दिये बिना न छोडे। यदि राजा पाप करे तो उसे भी दंड मिल सकता है। सत्यवादी, विचारशील, महा बुद्धिमान् धर्म, अर्थ और काम के तत्त्वों का जाननेवाला राजा वृद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु विपरीत गुणवाला राजा उसी दंड से मारा जाता है। जिस राजा के राज्य में न चोर न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन के बोलनेवाले न डाकू और न राजा की आज्ञा का भंग करनेवाले हैं-वह राजा उस आनन्द का भागी होता है जिसे 'शक्र' नामक सर्वोपरि राजा भोगता है। शुक्राचार्य-जी महाराज ने अपनी शुक्रनीति में राजाओं के गुण कितनी उत्तमता से बतलाये हैं-

विद्यावत्सु शरच्चंद्रो निदाघार्को द्विषत्सु च।
प्रजासु च वसंतार्क इव स्यात्त्रिविधो नृपः॥

अर्थात् राजा विद्वानों में शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान, शत्रुओं से ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के समान, प्रजाओं में वसंत ऋतु

के सूर्य के समान तीन प्रकार से रहे।" इसी प्रकार शुक्रनीति में राजाके कर्तव्य और गुणों के विषय में और भी बहुत कुछ उल्लेख है, जिसका सारांश यह है कि "न्यायकारी राजा अपने आपको और प्रजाको धर्म, अर्थ, काम से संयुक्त करता है और अन्यायकारी राजा अपने को तथा प्रजा को निश्चित ही नष्ट कर डालता है। धर्मात्मा राजा देवों का अंश और पापी राजा राक्षसों का अंश होता है और वह धर्मनाशक तथा प्रजा को दुःख देनेवाला होता है। यदि राजा सुयोग्य न हुआ तो प्रजा समुद्र में नाविक रहित नौका के समान डूब जाती है। विषयासक्त राजा हाथी की नाईं बंधन में फंस जाता है। बुद्धिमान् राजा बुरे पुरुषों से प्रेरित होकर भी अधर्म का कार्य नहीं करता। मन, विषयों के लोभ से इन्द्रियों को इधर उधर घुमाता है, अतः राजा मन को प्रयत्न से वश में करे। उपरोक्त गुण तथा शुक्रनीति में अन्य कई प्रदर्शित गुणों से रहित राजा राक्षसों का अंश होता है, और वह नरक का भागी बनता है।

राजा को विद्वान् और शास्त्रविद् होना चाहिये।

कई लोग कहते हैं कि प्राचीन काल में राजाओं की शिक्षा दीक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। पर यह बात गलत है। हां, जबसे भारतवर्ष गैरोंके हाथ पड़ा, तबसे हमारे राजाओं की शिक्षा का प्रबन्ध बहुत कुछ ढीला पड गया। पर प्राचीन काल में राजाओं के युवराज ऋषियों के पास रखे जाते थे और ऋषिगण उन्हें साहित्य, धर्मशास्त्र के अतिरिक्त बहुत कुछ व्यावहारिक ज्ञान भी करवा देते थे। राजाके लिये किन २ बातों के जानने की आवश्यकता है, इस पर शुक्रनीति में उल्लेख है।

राजा सदा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति इन विद्याओं का अभ्यास करे। अन्वीक्षिकी में तर्कशास्त्र-

शास्त्र शामिल हैं। त्रयी में चारों वेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण शामिल हैं। वार्ता में सूद का व्यवहार, कृषि, वाणिज्य, व्यापार और गौरक्षा का ज्ञान होता है। मतलब यह कि शासन करने में तथा अपनी प्रजाकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और ज्ञान सम्बन्धी उन्नति करने के लिये जिन २ विद्याओं की आवश्यकता है; वे सब राजाओं को सीखना पडती थीं। राजाओं के लिये इन विद्याओं का सीखना एक आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था।

राजा ईश्वरीय अंश क्यों माना गया?

हम ऊपर लिख चुके हैं कि प्राचीन काल में वही मनुष्य राजा हो सकता था जो राजनीति-कुशल हो, धर्मशास्त्रों में पारंगत हो, धर्मात्मा, न्यायी और समदृष्टि हो, जिसमें दया और वीरता का अपूर्व संगम हुआ हो, जो प्रबल पराक्रमी और तेजस्वी हो। इस प्रकार के सर्वगुण-सम्पन्न राजाको हमारे आर्य लोग देव का अंश समझते थे; क्योंकि वे उसमें अनेक दैवी गुणों का आविष्करण देखते थे। अयोग्य, मूर्ख, व्यभिचारी, प्रजाके सुख-दुःखों से बेपर्वाह राजा को उन्होंने कभी दैवी अंश नहीं माना। क्योंकि शुक्रनीति में लिखा है कि दुष्ट राजा देव* नहीं, पर राक्षस है।

---

* शुक्रनीति में तीन प्रकार के राजा माने हैं। सात्विक राजसिक और तामसिक। जो राजा अपने कर्तव्यों को भली प्रकार पालन करता है, अपनी प्रजा का पालन करता है, सब प्रकार के यज्ञ करता है, शत्रुके विरुद्ध अपनी सेना संचालित करता है, तथा जो परोपकारी, क्षमाशील, शूरवीर तथा सांसारिक पदार्थों से विरक्त रहनेवाला है वह सात्विक राजा है। तामसिक राजा वह है जो इसके विपरीत गुणवाला हो, जो दयाहीन हो, जो घमण्डी और द्वेषी हो और जो असत्यभाषी हो ऐसा राजा नर्क

जिस राजा में वास्तव में दिव्य गुण होते थे, वही देवता का अंश माना जाता था। आश्चर्य यह कि देवता का अंश माने जानेपर भी उसका दर्जा ऋषियों से, विद्वानों से तथा स्नातकों से कम माना जाता था। इस बात के सैंकडों प्रमाण हमारे धर्मशास्त्रों में मिलते हैं, जिनसे यह पाया जाता है कि हमारे राजा महाराजा ऋषि मुनियों की हर तरह की सेवा करने में अपना परम सौभाग्य समझते थे, और उनकी आज्ञा को हमेशा शिरोधार्य रखते थे। ऋषियों का दर्जा तो राजाओं से बहुत अधिक समझा जाता था, पर लोकमान्य विद्वानों और स्नातकों का दर्जा भी राजा से कम न समझा जाता था। चाणक्य नीति में कहा है:–

विद्वत्वंच नृपत्वंच नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान सर्वत्र पूज्यते ॥

अर्थात् राजा और विद्वान् की कभी बराबरी नहीं हो सकती, क्योंकि राजा तो स्वदेश ही में पूजा जाता है, पर विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है। अब स्नातकों की बात लीजिये।

मनुजी ने कहा है कि जहां भिन्न २ कई आदमी इकट्ठे हों, वहां स्नातक और राजा मान के योग्य हैं और जहां स्नातक और राजा हों वहां राजाको स्नातक का मान करना चाहिये. इसी प्रकार के विचार आपस्तम्ब, गौतम, वसिष्ठ तथा बौधायन में पाये जाते हैं.

जाता है। राजसी राजा वह है जो व्यर्थ घमण्डी हो, लोभी हो, विषयासक्त हो, लडाईखोर हो, जो नीच सोहबत में रहनेवाला हो, षड्यन्त्री हो, मनमानी करनेवाला हो तथा धर्मनीति तथा राजनीति के नियमों का निरादर करनेवाला हो, ऐसा राजा मृत्युके पश्चात् नीचातिनीच जन्तुओं की योनि ग्रहण करता है।

बात यह है कि वैदिक काल में तथा स्मृतिकाल में राजा की प्रभुता वैसी प्रबल न थी, जैसी कि आगे चलकर होगई। वैदिक काल में राजा एक बड़ा सरदार समझा जाता था। राष्ट्र उसकी निज की जायदाद नहीं समझी जाती थी। वह केवल राष्ट्र का रक्षक समझा जाता था। प्रो० बालकृष्णजी ने अपने 'वेदोक्त राज्य' नामक ग्रन्थ में मीमांसा दर्शन के कुछ सूत्र उद्धृत कर यह आशय निकाला है– "दुर्जनों को शिक्षा देना और सज्जनों का परिपालन करना ही राजा का कर्तव्य है और यही राजाका अधिकार है। भूमि को देने का अधिकार राजा को नहीं है। क्योंकि जो प्राणी अपने २ कर्मों के फलों को यहां भोग रहे हैं उनका इस भूमि पर समानरूपसे अधिकार है।"

प्राचीन राजा और लोकमत का आदर।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होगया होगा कि प्राचीन काल में राजा की शक्तियां कितनी मर्यादित थीं। आजकल पाश्चात्य देशों में जिस प्रकार राजाओं की शक्तियां प्रजा की शक्तियों से जकड़ी हुई हैं वैसी ही हालत हमारे यहां उस समय की परिस्थिति के अनुसार थी। उस समय वही राजा श्रेष्ठ समझा जाता था जो लोकमत का विशेष आदर करता था। जो अपने आपको जनता का स्वामी समझने की बजाय उसका सेवक समझता था। जो लोक प्रतिनिधि सभामें जाकर प्रजा के सुख दुःखों को तथा प्रजा की अभिलाषाओं को जानने की कोशिस करता था। ऋग्वेद ३-३८-६ में आज्ञा दी गई है।

" त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि
परि विश्वानी भूषथः सदांसि "

राजागण सुखप्राप्ति तथा विज्ञान वृद्धि के लिये तीन सभायें—विद्यासभा, धर्मसभा—बनाकर सम्पूर्ण प्रजाको विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें " ९।८।६ में कहा है

" राजा न सत्य समिती रियान् "

अर्थात् समिति-लोकसभा-में जानेवाला राजा ही सत्य-श्रेष्ठ-समझना चाहिये।

वंश परम्परागत राज्यपद्धति।

ऊपर हमने जो प्रमाण दिये हैं, उनमें राजाओं को निर्वाचित करने की बात है। साथ साथ यह भी दिखलाया गया है कि श्रेष्ठ राजा देवताओं के अंश समझे जाते थे और ये हर तरह प्रजा मत का तथा राष्ट्र के विद्वान् ऋषि मुनियों के मतका आदर करते थे। सारा वैदिक साहित्य तथा स्मृति पुराणादि ग्रन्थ पढ जाने पर भी इस बातका पता लगाना कठिन है कि भारत में वंश परम्परागत राज्य की उत्पत्ति कबसे हुई। भारतमें वे ही लोग राजा चुने जाते थे जो राज्यवंश के होते थे। साधारण मनुष्योंमें से भी कोई योग्य मनुष्य राजा चुन लिया जाता था। ये प्रश्न इतनी उलझन के हैं, कि जिन्हें ठीक २ सुलझा देना जरा टेढ़ी खीर है। राजोत्पत्ति के लिये अथर्ववेद में लिखा है:—

"विराड् वा इदमग्र आसीत
तस्यां जातायाः सर्वमबिभेदिय मे वेदं भविष्यति "

इस मन्त्र का अर्थ ग्रिफिथ साहब ने यों किया है—

" At first, this (the society on earth) was विराड्; that is to say, it was without a king. "

(वि+राट्). At birth all feared her (that is विराड् the condition of there being no king-or the king-less nation; they thought, she will become this all, struck terror. "

अर्थात् प्रारम्भ में यह (पृथ्वीपर का समाज) विराड् था अर्थात् बिना राजा के था। उत्पन्न होने पर सब उसको (अर्थात् विराड्-राजा न होने की अवस्थाको-वा राजविहीनराष्ट्र को) देख इस विचार से भयभीत हुए कि यह समाज ऐसा ही रहेगा। इसी आशय का उल्लेख महाभारत में भी आया है। युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा है कि हाथ, पांव, कान, भुजा और गर्दन सब मनुष्यों के है तब एक मनुष्य में ऐसी क्या विशेषता है, जिससे वह सब पर आधिपत्य करता है। इसके उत्तर में भीष्म ने कहा था:—

" नियतस्त्वं नर व्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥
नैवं राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दंडो न दंडिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥

अर्थात् हे नर व्याघ्र, वह सब सुनो जिस प्रकार कि सत्ययुग के प्रारम्भ में राज्य उत्पन्न हुआ। पहले न राज्य था और न राजा, न दण्ड था न दण्ड देनेवालाही। धर्म से सब प्रजा परस्पर की रक्षा करती थी। "

ऊपर के वैदिक मन्त्र से तथा महाभारत के श्लोक से केवल यह तात्पर्य निकलता है कि आरंभ में कोई राजा नहीं था। सुव्यवस्था और सुशासन के लिये राजा की उत्पत्ति की गई। पर इन से यह मालूम नहीं होता कि आरंभ में राजा लोग साधारण जनता में से चुने जाते थे, या वंशपरंपरागत राज्य प्रणाली कायम की गई थी।

इस बात का जबतक पक्का ऐतिहासिक प्रमाण न मिले, तबतक इस विषय में कोई निश्चित मत नहीं दिया जासकता।

हां, वैदिक साहित्य के पढने से यह तो मालूम होता है कि राजाको निर्वाचित करने की प्रथा उस समय सर्वत्र रूप से नहीं, तो भी बहुत कुछ प्रचलित थी। साथ ही में वंशपरंपरागत राज्य प्रणाली का भी कुछ दिग्दर्शन वैदिक साहित्य में मिलता है। हम इस विषय पर अधिक तर्क वितर्क करने में असमर्थ हैं क्योंकि हम अनधिकारी भी हैं। पर हमारा यह अनुमान है कि धीरे २ निर्वाचित करने की पद्धति का लोप होता गया और वंशपरम्परागत राज्य-पद्धति का जोर बढता गया। वैदिक काल के पिछले समय में वंशपरम्परागत राज्य की प्रथा जारी हो चुकी थी। शतपथ ब्राम्हण में एक जगह लिखा है "वंशपरम्परागत राज्य की स्थापना प्रायः अच्छी तरह से होगई।" रामायण और महाभारत के जमाने में तो यह प्रथा अच्छी तरह जारी हो चुकी थी। पर यह न भूलना चाहिये कि किसी को राज्यासीन करने के पहले लोगों की सम्मति अवश्य ली जाती थी। पर इस समय जनसत्ता की उतनी प्रबलता न थी, जितनी कि वैदिक समय में थी। रामायण महाभारत के काल में वंशपरम्परागत राज्य प्रणाली की स्थापना अच्छी तरह से हो चुकी थी। उस समय में आजकल की तरह, बडे लडके को राज्यगद्दी देने की प्रथा जारी थी। पर इस समय भी राजा को निर्वाचित करने की पद्धति का समूल नाश नहीं हुआ था। बौद्ध काल के इतिहास में तो ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जिसमें राजा को निर्वाचित करने की बात है। बौद्धों के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पंच-गुरु जातक में लिखा है कि बौद्धिस्त को लोगों ने राज्यगद्दी प्रदान की। बौद्धग्रन्थों में राजा को निर्वाचित करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

भारत में वंशपरम्परागत राज्य प्रणाली स्थापित होने के बाद भी राजा को राज्यगद्दी पर बैठाते समय लोगों की सम्मति लेने की प्रथा बहुत अर्सेतक जारी रही है, इतनाही नहीं राज्यगद्दी का हकदार भी अगर अयोग्य समझा जाता था उसमें अगर कोई खास दोष होता तो उसकी जगह उसी कुल के किसी दूसरे योग्य आदमी को गद्दी दी जाती थी। उदाहरण के लिये देवापि और धृतराष्ट्र को लीजिये। देवापि को कुष्ट की बीमारी होने से उसने राज्य सिंहासन पर बैठने से इन्कार किया और लोगों ने उसकी जगह पर शान्तनु को राज्यसिंहासन पर बैठाया। महाभारत में लिखा है कि धृतराष्ट्र के अन्धे होने की वजह से राज्य सिंहासन पर उनके छोटे भाई पांडु बैठाये गये। पुराने ग्रन्थों में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि आपत्तिकाल में कई वक्त प्रजा किसी निर्बल और अयोग्य राजा को सिंहासन से उतारकर उसकी जगह पर अधिक पराक्रमी, बलवान् और बुद्धिमान् मनुष्य को बैठाती थी। राज्य सिंहासन के लिये जब कोई झगडा खडा होता था तो उस झगडे को मिटाने के लिये लोगों की सम्मति बहुमूल्य मानी जाती थी। महाभारत में लिखा है कि युधीष्ठिर और दुर्योधन के बीच में जब राज्यगद्दी के लिये झगडा उपस्थित हुआ, तब लोगों ने युधिष्ठिर के पक्ष में अपने मत दिये। कभी २ राज्य के सचिवों के द्वारा राजाओं को निर्वाचित करने के उदाहरण भी मिलते हैं। थंडी के राजा राज्यवर्द्धन को पुंद्र के राजा ने विश्वासघात कर मारडाला। तब थंडी के प्रधान सचिव ने सचिव मण्डल की राय लेकर लोगों की सम्मति से हर्षवर्द्धन को सिंहासन पर बैठाया।

इस प्रकार के अन्य भी कई उदाहरण मिलते हैं; जिनसे लोकमत तथा लोगों की पसंदगी से राजा का निर्वाचित होना पाया जाता है। पर, जैसा ऊपर कह चुके हैं वंशपरम्परागत

राज्य प्रणाली का अस्तित्व भी भारत में नया नहीं है। यद्यपि राजा के लडके को भी गद्दी पर बैठाते समय राज्य के विद्वान् सचिवों की तथा प्रजा के योग्य प्रतिनिधियों की सम्मति ली जाती थी, पर वह मनुष्य जो राज्यगद्दी पर बैठता था, प्रायः राज्यवंश का होता था। वैदिक काल में तो जहांतक हमारा अनुमान है राजा साधारण जनता में से ही चुना जाता था, पर पीछे जाकर जब वंशपरम्परागत राज्यप्रणाली का सूत्रपात हुआ तब राज्यवंश के आदमी ही को चुनने की प्रथा जारी हो गई। यह प्रथा जारी हो जाने पर भी कई जगह साधारण जनता में से राजा को चुनने की प्रथा भी साथ ही साथ जारी थी। बौद्धकाल में हम इन दोनों प्रथाओं को पाते हैं। बौद्ध ग्रंथों के देखने से पता चलता है कि बौद्धकाल में कहीं तो वंशपरम्परागत राज्य प्रणाली शुरू थी और कहीं २ राजा लोग चुने भी जाते थे। दोनों ही तरह के उदाहरण बौद्धग्रंथों में मिलते हैं।

कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि जबसे वंशपरम्परागत राज्य-प्रणाली का जन्म हुआ, तबही से राजा देवता का अंश समझा जाने लगा। पिछले समय के वैदिक साहित्य में तथा स्मृतियों तथा पुराणों में राजा देवता का अंश माना गया है। अथर्ववेद में तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इस बातका थोडासा उल्लेख है। आगे जाकर यह बात राजनैतिक सिद्धांत के रूप में परिणत हो गई। " राजा ही परम देवता " के तत्व ने अधिक व्यापकता का रूप धारण कर लिया। मनुजी ने तो राजा के लिये कहा है " जब प्राणीगण राजा के अभाव में डरके मारे इधर उधर चहुं ओर बिखरने लगे, तब ईश्वरने संसार की रक्षा के लिये राजा को उत्पन्न किया। " महाभारत में कहा है " कोई मनुष्य राजा को साधारण मनुष्य मानकर उसकी अवहेलना न करे, क्योंकि

राजा मनुष्य के रूप में देवता होता है। राजा भिन्न भिन्न अव-सरों के अनुसार भिन्न २ पांच रूप धारण करता है।" आगे चलकर फिर महाभारत में कहा गया है;—ईश्वरीयअंश होने ही के कारण हजारों आदमी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं हांला कि वह भी उसी दुनिया में रहता है, जिसमें अन्य मनुष्य रहते हैं और उसमें भी वही हड्डियां हैं, जो दूसरों में हैं।

मतलब यह कि भारत वर्ष में कई हजारवर्षों के पहले से राजा में एक दैवी तत्व की स्थापना की गई है। वह देवता का अंश माना गया है। पर यहां यह न भूलना चाहिये कि हरएक राजा के लिये यह विधान नहीं किया गया था। जो राजा धर्मात्मा वीर, जितेन्द्रिय और प्रजापालक होता था वही देवता का अंश समझा जाता था। दुष्ट, दुराचारी और लंपटी राजा अच्छा नहीं माना जाता था। ऐसे राजाओं को कर्तव्यहीन कहकर गद्दी से उतार देने के भी कई जगह उल्लेख मिलते हैं.

भारत में राजा राष्ट्र का मुखिया समझा जाता था न कि मालिक। राज्य का उद्देश प्रजाका विकास और भलाई था। और इसी उच्चतम उद्देश को जो राजा योग्य रीति से पालन करता था, वही वास्तविक राजा और देवता का अंश समझा जाता था। प्राचीन भारत में जिस प्रकार राजा की आज्ञा पालन करना प्रजा का धर्म कहा गया है, वैसे ही प्रजा की कल्याण कामना करते हुए उसकी सुखसमृद्धि को बढाना भी राजा का कर्तव्य माना गया है। प्राचीन भारत के राजनैतिक विचारों में भी यह एक विशेषता है कि उस समय राजा, देवता का अंश समझा जाकर भी, प्रजा का नौकर समझा जाता था। बौद्धायन ने कहा है;—राजा अपनी प्रजा की रक्षा करे, क्योंकि वह इसके लिये प्रजा से उनकी आय-

का छठा अंश लेता है। शुक्रनीति में भी कहा है " (ब्रम्हा) ने राजा को प्रजा का नौकर उत्पन्न किया है और प्रजा की उत्पन्न से उसे पुरस्कार मिलता है। वह राजा का रूप अपनी प्रजा का पालन करने के लिये ग्रहण करता है। " जब राजा अपने धर्म और कर्तव्यों का पालन करना छोड देता था, जब वह जनता के हित का घात करने पर उतारू हो जाता था, तब प्रजाको भी शास्त्र-आज्ञा थी कि वह भी ऐसे राजा की आज्ञा न मानें-उसे पूज्य दृष्टि से न देखे। महाभारत में कहा है " जो राजा प्रजाकी रक्षा करने में असमर्थ है, वह बेकाम है। अगर कोई राजा अपने कर्तव्य पालन करने में असफल होता है, तो कोई दूसरा मनुष्य, चाहे वह किसी जाति का हो, राज्यभर लेले " शुक्रनीति में कहा है " अगर राजा धर्म, नीति और शक्ति का शत्रु है और दुराचारी है तो लोगों को चाहिये कि उसे राज्य का नाशक समझकर निकाल दे, और राज्य की रक्षा के लिये पुरोहित लोगों की सम्मति से राज्यकुल के किसी धर्मपरायण मनुष्य को राज्यसिंहासन पर बैठा दे।

इन उपरोक्त प्रमाणों से यह तो स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राजा की शक्तियां मर्यादित थीं। वह एक तन्त्री नहीं हो सकता था। जहां वह मनमानी करने लगा और ऋषि और विद्वान् ब्राम्हणों का उपदेश न सुनने लगा कि वह फौरन गद्दी से उतार दिया जाता था। आईन विज्ञान के एक सुप्रसिद्ध लेखक का कथन है " आर्य लोगों में राजा की स्वेच्छाचारिता बहुत कम थी। भारतवर्ष में राजा कानून के ऊपर नहीं समझा जाता था " राजा का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह शास्त्रों के नियमों के अनुसार चले और इन नियमों के व्यावहारिक उपयोग के लिये वह अपने सचिवों की सलाह ले। कोई कठिनाई उपस्थित होने पर

वह विद्वान् ब्राम्हणों के उपदेशानुसार कार्य्य करे। अत्रैय ब्राम्हण ग्रन्थ में राजा के लिये निम्न लिखित प्रतिज्ञा लेने का विधान है, "अपने जीवन में मैंने जो कुछ सत्कार्य किया है, उस सबका पुण्य तथा मेरा पद, मेरा जीवन सबकुछ मुझसे छीन लिये जावें, अगर मैं तुम्हें यानी अपनी प्रजाको सताऊं।" महाभारत में राजा के लिये कहा है "मन, वचन और कार्य से तू सौगन्ध ले ले कि मैं देश को महान् समझता हुआ उसकी भलाई के लिये हमेसा प्रयत्न करता रहूंगा और कानून, धर्मनीति तथा राजनीति के नियमानुसार चलता रहूंगा।" नीति वाक्यामृत ग्रन्थों में तो साफ कहा है "वह राजा ही नहीं है जो अपने (योग्य) सचिवों के उपदेशों के विरुद्ध चलता है।" शुक्रनीति में कहा है "जो राजा अपने सचिवों का उपदेश नहीं सुनता, वह राजा के भेष में दस्यु है और वह अपनी प्रजा की सम्पत्ति का चोर है।" इसी नीति में और कहा है "जबतक राजा धर्मशील रहता है, तबतक ही वह राजा रहता है।" मतलब यह है कि वंशपरम्परागत राज्य-प्रणाली स्थापित हो जाने पर भी कई दिनोंतक राजा की शक्तियां स्वेच्छाचारी नहीं होने पाई थीं। राजाको प्रजासत्ता और न्याय के अंकुश में रहना पडता था। बहुत दिनोंतक यह विचार प्रबल रहा कि राजा की शक्तियां प्रजा ही में रही हुई हैं, और प्रजा के विकास और भलाई के लिये राजा को अपना तन, मन, धन लगा देना चाहिये। जिस राजा के विरुद्ध लोकमत होजाता था, वह पापी और शासन करने के अयोग्य समझा जाता था। महाभारत के कथनानुसार राजा के ये कर्तव्य हैं। (१) लोगों को प्रसन्न रखना। (२) लोगों की रक्षा करना; (३) हमेशा लोगों की भलाई चाहना; (४) दुष्टों को दण्ड देना; (५) सत्य, संयम, नम्रता, दया और धैर्य को धारण करना आदि। एक Milinda

fanba में राजा के कर्तव्यों का इस प्रकार बखान किया है; " राजा उदारता, मिलनसारी, न्याय और निःपक्षता से प्रजा की प्रियता प्राप्त करे।"

हमारे भारतवर्ष में राजाही व्यवस्था करता था, वही न्याय करता था और वही सैन्य सञ्चालन करता था। राजा ही राज्य का मुखिया माना जाता था और वही राजनैतिक स्वत्वों का रक्षक था। इसके अतिरिक्त राज्य में शांति रखना, प्रजा के जान माल की हिफाजत रखना उसका खास कर्तव्य समझा जाता था। राज्य के अधिकारी जो कुछ काम करते थे, वह राजा के प्रतिनिधि या नौकर की हैसियत से करते थे। न्याय का शासन राजा के नाम पर होता था और कभी २ खुद राजा न्यायालय का अध्यक्ष होता था। कानूनी अदालतों के फैसलों को राजा ही मंजूर करता था। कोई अपराधी अगर दया करने के योग्य होता तो राजा उसके प्रति दया भी प्रकट करता था। यद्यपि राजा को कानून बनाने का अधिकार न था, × पर कभी २ वह सरक्युलर प्रकाशित करता था, जो कानून के नियमों ही के अनुसार समझे जाते थे। राजा फौज का भी कमांडर रहता था और अक्सर उसे फौज को रणक्षेत्र में सञ्चालित करना पडता था। रामायण के सुंदर काण्ड में कहा है "राजाओं को धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और युद्धकला में प्रवीणता प्राप्त करना चाहिये।" राजाओं को युद्ध विजेता और वीर कहलाने की बडी अभिलाषा रहती थी। और इसी से यहां ऐसे ऐसे महावीर राजा होगये हैं कि जिनका यशोगान आज

× प्रो मेकडानल का कथन है:—There is on reference in early Vedic literature to the exercise of legislative activity by the King, though latter it is an essential part of his duties.

हम बड़े अभिमान के साथ करते हैं। और जिनके प्रताप से भारत का मस्तक बहुत उन्नत होगया है। इसके अतिरिक्त राजा, एक दृष्टि से समाज का मुखिया भी गिना जाता था। धर्म का रक्षक भी वही समझा जाता था। शासन के तौर पर वह प्रजा के नैतिक और धार्मिक जीवन को भी संयमित करता था।

इन सब उच्च कर्तव्यों का सम्पादन करने के लिये तथा राज्य के उच्चतम कर्तव्य को भली प्रकार पालन करने के लिये राजा में चाणक्य के मतानुसार निम्न लिखित बातें होनी चाहिये। वह अच्छे खानदान में जन्मा हो, बृहस्पति के समान बुद्धि और प्रतिभा हो, वीरता हो, अनुभवी पुरुषों की आंखों के द्वारा देखने की बुद्धि हो, धर्म पर प्रेम हो, सच्चाई, सरलता, कृतज्ञता और दृष्टि की व्यापकता हो, तथा उत्साही हो। इतने गुणों के साथ २ राजा में गम्भीर ज्ञान, सुस्मरणशक्ति, प्रबलमन, कार्य्योत्साह, सर्व विषयक पारदर्शिता, इनाम तथा दंड देनेकी बुद्धि, देश को आफतों से बचाने की सामर्थ्य दूरदृष्टि, उपयुक्त अवसरों में तुरन्त लाभ लेने की स्फूर्ति, शांति तथा युद्ध का निश्चय करने की योग्यता, शत्रु की कमजोरी का फायदा उठाने की तत्परता, दूरदर्शिता, हास्यमय प्रकृति, काम, क्रोध, लोभ, चिड़चिड़ापन, द्वेष आदि दुर्गणों से विरक्ति आदि सद्‌गुण राजा में अवश्य होने चाहिये। महभारत में राजा के कर्तव्यों के लिये कहा गया है:—

"राजाको क्रोध और द्वेष रहित होकर अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये। बिना जुल्म के धन सम्पादन करे, दया को कभी न छोड़े। मोह रहित सुख भोगे। योग्य बात करे। शूरवीर और उदार हो। अपनी बहादुरी दिखलावे, पर उसमें दुष्टता न हो। दुष्ट मनुष्यों को छोड़कर सबके साथ मित्रता करे। मित्रों से कभी

दुश्मनता का भाव नहीं रखे। ऐसे आदमियों को गुप्त दूत न रखे जो उसके भक्त न हों, बिना जुल्म के अपने उद्देशों की सिद्धि करे, दुष्ट मनुष्यों के सामने अपना उद्देश्य न खोले। दूसरों के गुणों की प्रशंसा करे, अपने गुणों की नहीं। दुष्ट मनुष्यों को कभी नौकर न रखे न कभी उनसे किसी प्रकार की सहायता ले; बिना पूरी जांच किये कभी किसी को सजा न दे। वह कभी अपनी गुप्त मन्त्रणाओं को प्रकाशित न करे। वह दूसरों पर विश्वास रखे, पर उन मनुष्यों पर न रखे, जिन्होंने उसे हानि पहुंचाई है, द्वेष को उत्तेजन न दे। अपनी विवाहिता स्त्रियों की रक्षा करे। शुद्ध रहे। पात्र महानुभावों का हमेशा सम्मान करे। अपने गुरुओं और बडों की दिल से सेवा करे। निरभिमानी होकर ईश्वर की पूजा करे। समृद्धि प्राप्त के लिये यत्न करे पर ऐसा काम न करे जिससे उसकी अपकीर्ति हो। बडों के साथ नम्रता से पेश आवे, अपने कारोबार में होशियार रहे और उपयुक्त अवसर को हमेशा देखता रहे आदि आदि।

कहिये पाठक! हमारे आर्यशास्त्रों के अन्दर राजाओं में जिन सद्-गुणों की आवश्यकता बतलाई है, वे कितने उत्कृष्ट और दिव्य हैं। इन्हीं सद्गुणों के कारण उस समय के राजा देवता के अंश समझे जाते थे और प्रजा न्याय पाती थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन समय में राजा लोग नित्य सुबह उठकर सभाभवन में जाते थे और प्रजा के सुख दुःखों की जांच किया करते थे। अच्छे राजा अपने नियत समय में नियत काम को किया करते थे। चाणक्य ने राजाओं का दिन-क्रम इस प्रकार विभक्त किया है:—

दिनका समय।

(१) राज्य रक्षा के उपायों पर विचार करे।

(२) लोगों के दुःख और शिकायतों को सुनकर उन्हें योग्य न्याय देने की व्यवस्था करे।

(३) स्नान, अध्ययन और भोजन करे।

(४) खजांची से हिसाब की जांच करे।

(५) सचिवों से सलाह मशविरा करे।

(६) सब प्रकार की सेनाओं का निरीक्षण करे।

(७) प्रधान सेनापति से फौजी मामलों में सलाह मशविरा करे।

रात का समय।

(१) गुप्तचरों से समाचार प्राप्त करे।

(२) स्नान, भोजन और संध्या करे।

(३) नींद ले।

(४) शास्त्रों और राजा के कर्तव्यों पर विचार करे।

(५) सचिवों से सलाह मशविरा करे और गुप्तचरों को रवाना करे।

यह बात नहीं है कि यह समय क्रम ठीक २ वैसा ही पाला जाता था, जैसा कि ऊपर कहा गया है। सम्भव है कहीं २ इस में कुछ फेर बदल भी होता हो। पर इसमें सन्देह नहीं कि राजा लोग प्रायः समय के पाबन्द रहते थे, और नियत समय में अपने नियत काम को करते थे। आवश्यक कार्य के समय कोई भी राजा कार्य में उपस्थित हो जाते थे*। प्राचीन काल में यहां राजाओं का

* कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा है कि राजा हरएक आवश्यक काम के समय उपस्थित हो और कभी किसी आवश्यक काम को आगे न ढकेले। क्योंकि देरी होजाने से शायद वह पूरी सिद्धि को न प्राप्त कर सके।

आदर्श बहुत ऊंचा माना जाता था। वे केवल अपनी प्रजा की इहलौकिक भलाई ही के लिये प्रयत्न नहीं करते थे, पर उनकी आध्यात्मिक वृत्ति का विकास कर उनके लिये पारलौकिक सुख का मार्ग भी खोलने की चेष्टा करते थे। हमारे भारतवर्ष में ऐसे बहुत से राजा होगये हैं जो बड़े भारी तत्वज्ञानी और धर्म परायण थे और प्रजा की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति के लिये सदा सचेष्ट रहते थे। कालिदास ने अपने रघुवंश नामक सुप्रसिद्ध काव्य में 'दिलीप' नामक एक ऐसे रघुवंशीय राजा के चित्र का चित्रण किया है, जिसने अपनी प्रजा की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति साधन में सदा सुख माना है। ऐतिहासिक समय में भी अशोक और हर्षवर्द्धन जैसे आदर्श नृपतियों के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने अपनी प्रजा की भलाई के लिये कुछ उठा न रखा। कामंदकी का कथन है कि राजा को अपनी प्रजा की भलाई के लिये शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिये।

हमारे प्राचीन ग्रंथों में कई आदर्श राजाओं के उल्लेख हैं, जिन्होंने प्रजामत के आगे हमेशा सिर झुकाया है और जिन्होंने प्रजाकी भलाई के लिये अपना सर्वस्व दान करने में भी आगा पीछा न किया है। वे प्रजाकी हमेशा सुधि लिया करते थे। प्रजाको न्याय देने के लिये हमेशा तत्पर रहते थे। प्रजा ही के नौकर होकर प्रजाही से मिलने जुलने तक का परहेज करनेवाले आजकल के मूर्ख और घमंडी राजाओं की तरह उनका व्यवहार न था। हमारे बहुत से पढे लिखे पाठकों ने सुप्रसिद्ध आर्य सम्राट "अशोक" का नाम सुना होगा। उनका कथन है कि लोगों की भलाई के लिये

और समस्त जीवधारियों का इतना हित साधन करूं कि वे केवल इसी लोक ही में नहीं पर परलोक में भी सुख पावें और स्वर्ग प्राप्त करें। कहिये पाठक! कितनी दिव्य भावना है? राज्य कर्तव्य की इतनी उत्कृष्ट भावना क्या आप संसार के किसी भी इतिहास में बतला सकते हैं? अशोक का हुक्म था कि मेरे किसी प्रजाजन को कोई मेरे पास आने से न रोके। चाहे मैं भोजन करता हूं, चाहे जनानखाने में हूं, चाहे सोता हूं, चाहे बाग बगीचे में हूं, पर मैं हमेशा अपनी प्रजा की सेवा के लिये तैयार हूं और प्रजाका तुच्छ से तुच्छ मनुष्य भी हर समय मुझ से मिल सकता है। मैं अपनी प्रजाकी सेवा के लिये हर वक्त तैयार हूं। हर्ष का नाम भी न्यायपरायण और धर्मात्मा राजाओं में प्रख्यात् है। यह भी खुद राज्य का सब काम देखता था। प्रजा के छोटे बडे सब दुःखों की जांचकर उन्हें हर प्रकार का सुख पहुंचाने की चेष्टा करता था। एक विदेशी प्रवासी ने इसके लिये लिखा है "इसकी कीर्ति चहुंओर फैली हुई है उसके सद्गुणों ने स्वर्ग और पृथ्वी को हिला दिया है उसके न्याय प्रियता की देवगण भी प्रशंसा करते हैं. उसकी प्रजा उसे बडी पूज्य दृष्टि से देखती है। हयूएनसांग की जीवनी में लिखा है कि "यह बडा ही धार्मिक और देशभक्त राजा था।" बाण कवि ने भी लिखा है किसी राजा का शासन इतना निर्दोष न था जितना कि हर्ष का था।

कई प्राचीन राजागण अपनी प्रजा के सुख दुःखों को जानने के लिये भेष बदल कर रातको घूमा करते थे। वे जिस प्रकार अमीरों के सुख दुःख जानने की चेष्टा करते थे, वैसे ही गरीबों के सुख दुःख जानने की भी चिन्ता किया करते थे। जहां उन्हें गुप्त रीति से भी कहीं किसी प्रजाजन की योग्य शिकायत मालूम होती थी तो वह उसे दूर करने की यथाशक्ति चेष्टा करते थे। राजा

विक्रमादित्य की जीवनी हमारे उपरोक्त कथन की साक्षी है। मतलब यह कि पहले जमाने में व्यसनी, विलासप्रिय, प्रजा के सुख दुःखों से बेपर्वाह, लम्पटी, मूर्ख और घमन्डी राजा महाराजा न हुआ करते थे। वे बड़े ही सज्जन, सच्चरित्र, जितेन्द्रिय, वीर और पराक्रमी हुआ करते थे।

राजाओं की शिक्षा और संस्कार।

यह बात सब जानते हैं कि बचपन में जैसी शिक्षा दी जाती है, जैसे संस्कार डाले जाते हैं, वैसाही प्रभाव आगे चलकर जीवन पर होता है। बचपन की परिस्थिति और शिक्षा तथा संस्कारों पर मनुष्य जीवन की नींव बनती है। इससे बचपन की शिक्षा और संस्कारों पर सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। राजा लोगों के हाथ में हजारों लाखों मनुष्यों के किस्मत की बागडोर रहती है ऐसी दशा में राजाओं के बचपन की शिक्षा और संस्कारों पर तो अत्यन्त ही ध्यान देने का प्रयोजन है। प्राचीन काल में युवराजों की—भावी राजाओं की—शिक्षापर कितना ध्यान दिया जाता था, यह बात हमारे आर्य्य ग्रन्थों के पढने से स्पष्टतया मालूम होती है। राजा का पुत्र जहां छः या सात वर्ष का हुआ कि उसकी शिक्षा का प्रारम्भ हो जाता था। वह ऋषियों के पास रखा जाता था, जहां वह धर्मशास्त्र, नीति, विज्ञान, कानून, शस्त्रविद्या, आचार-विज्ञान, शासन-विज्ञान आदि सब बातों की शिक्षा पाता था। पवित्र और उदार वातावरण में रहने के कारण उसमें विलासप्रियता, दम्भ और दुष्टता न घुस पाती थी। राजा होने पर प्रजा को वह पुत्रवत् समझने लगता और उसके हरएक सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगता। उसे-

जानना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। राजा का पहला कर्तव्य अपनी प्रजा की रक्षा करना और बुरे काम करनेवालों को दण्ड देना समझा जाता था। राजपुत्र की शिक्षा के लिये या तो विद्वान् ऋषियों के पास प्रबन्ध किया जाता था, या बडे २ विद्वान् आचार्य्य रखे जाते थे। शासन विभाग में उनसे काम लिया जाता था, जिससे उन्हें शासन का व्यावहारिक ज्ञान हो जाता था। वे अपने कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली होकर प्रजा पर मनमानी न करते थे। युवराज राज्य की कौंसिल का महत्वपूर्ण सदस्य रहता था और कई समय उसे किसी प्रान्त की गवर्नरी तथा फौज की कमांडरी करना पडती थी। अशोक युवराज की अवस्था में दो प्रान्तों का गवर्नर नियुक्त किया गया था। समुद्रगुप्त ने युवराज की अवस्था में वीर होने की कीर्ति प्राप्त की थी। राज्यवर्द्धन अपने पिता के द्वारा फौज का कमांडर बनाकर हूंसके खिलाफ युद्ध करने को भेजा गया था। अगर कोई युवराज अपने कार्य में अनुपम योग्यता दिखलाता था, तो वह उपराजा तक बना दिया जाता था। उसे वे सब अधिकार प्राप्त हो जाते थे, जो राजा को रहते हैं। यह भी होता था कि अपने इस प्रकार के होशियार और बुद्धिमान् पुत्र को राजगद्दी देकर राजा आत्मचिन्तवन के लिये राज्य छोडकर वनवास चले जाते थे। इस प्रकार हमारे प्राचीन भारत में उत्तम राजाओं की सृष्टि के लिये उनके बचपन ही से उनके जीवन को बनाने के प्रयत्न किये जाते थे और यही कारण है कि वे राजा जितेन्द्रिय, न्यायपरायण, प्रजाहितैषी हुआ करते थे और निरन्तर प्रजा का हितचिन्तवन किया करते थे।

प्राचीन भारत में राजा का मन्त्री-मंडल।

प्राचीन काल में भी, आजकल की तरह मंत्रियों की सहायता से राजा शासन कार्य करते थे। भिन्न २ विभागों के भिन्न २ मंत्री हुआ करते थे; शुक्रनीति में इन मंत्रियों विभाग इस प्रकार किया है—

पुरिधा.	प्रतिनिधि.	प्रधान.	सचिव.
मंत्री.	पाण्डित.	प्राड्विवाक.	अमात्य.
सन्निधता.	दूत.		

इन जुदे २ मंत्रियों के सुपुर्द राज्य के जुदे २ विभागों के कार्य सौंपे जाते थे। उपरोक्त जिम्मेदारी के पदों पर वे ही महानुभाव नियुक्त होसक्ते थे, जो उन पदों के लिये पूर्णरूप से योग्य हुआ करते थे। इनके चुनाव में बडा ध्यान दिया जाता था। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि मंत्री होने के लिये सब से योग्य मनुष्य वही है जो स्वदेशवासी हो, उच्च घराने का हो, प्रभावशाली हो, विद्वान् हो, कला कौशल्य और विज्ञान का जाननेवाला हो, बुद्धिमान् और दूरदर्शी हो, अच्छी स्मरणशक्तिवाला हो, योग्य हो, अच्छी ग्राहकशक्तिवाला हो, उत्साही हो, सहनशील हो, शुद्ध चरित्र हो, राज्य का पूर्ण हितैषी हो, अच्छे आचार, व्यवहार, धैर्य और तन्दुरुस्तीवाला हो, दीर्घसूत्री न हो, मन का चंचल न हो, प्रेममय स्वभाव का हो। ये मंत्री के आदर्श हैं, जो हमारे शास्त्रों में कहे

जिस मंत्री में इन गुणों की जितनी कमी होती थी, वह मंत्री उतने ही कम दर्जे का समझा जाता था। मनु महाराज ने भी कहा है कि "उसे सात या आठ मंत्री नियुक्त करने दो जिसके पूर्व पुरुष राज्यभक्त सेवक रहे हों, और जो शास्त्रों में निपुण हो और शस्त्र-विद्या में पारंगत हो, और जो अच्छे पूर्वजों की संतान हो। महाभारत में कहा है "वह मनुष्य जिसने बडी ख्याती प्राप्त की है, जो दूसरों से द्वेष नहीं करता, जो कभी बुरा काम नहीं करता, जो काम, क्रोध, लोभ, मान माया के लोभ से कभी सत्य से विचलित नहीं होता, जो बडी होशियारी से अपना कारोबार करता है जिसका भाषण बुद्धिमत्तापूर्ण और वजनदार होता है वही अच्छा मंत्री हो सकता है।" महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है "जो मनुष्य अच्छे खानदान के हों, सच्चरित्र हों, उदार चरित्र हों, शूरवीर और सम्माननीय हों, विद्वान् और सब साधनों से युक्त हों, उन्हें भिन्न २ विभागों पर उपमंत्री बनाने चाहिये।"

पहिले के जमाने में मंत्रीगण प्रायः वैश्य और ब्राम्हण जाति से चुने जाते थे। सुप्रसिद्ध प्रवासी मेगस्थेनिज का कथन है, कि ब्राम्हण जाति का एक अलग ही दल था। जो विद्वान्, बुद्धिमान् कर्मनिष्ठ, स्वार्थत्यागी और आत्मध्यानी पुरुष होते थे वेही ब्राम्हण कहलाते थे। ऐसे लोग राजाओं को उपदेश किया करते थे, और उन्हें राज्य शासन का मार्ग बतलाते थे। एक ग्रीक लेखक का कथन है कि ब्राम्हण समुदाय में बहुत कम लोग रहा करते थे, और वेही लोग इसमें समाविष्ट हो सकते थे, जो उच्च प्रकार के बुद्धिमान् होते थे, जिनमें प्रधानता से न्याय देवता का आसन रहता था। इन लोगों को गवर्नर, डिप्टी गवर्नर, फौज के जनरल, खजाने के सुपरिंटेंडेन्ट आदि सबको पसंद करने का अधिकार

रहता था। इन लोगों की बडी सत्ता थी, और राजा तक इनकी आज्ञा का पालन करना धर्म समझता था।

मंत्री को चुनने के लिये इन लोगों में कभी २ बडा वादानुवाद होजाया करता था। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस प्रकार के एक वादानुवाद का मनोरंजक वर्णन दिया है, हम उसका अनुवाद नीचे प्रकाशित करते हैं।

भरद्वाज कहते हैं कि "राजा को चाहिये कि वह अपने साथियों में से मंत्री चुने; क्योंकि राजा को ऐसे मंत्री की योग्यता का व्यक्तिगत ज्ञान रहता है और इसमें वह उसका विश्वास करता है। इस पर विशालाक्ष ने कहा कि यह ठीक नहीं। क्योंकि अगर साथियों में से मंत्री चुना जायगा तो वह राजाकी अवहेलना करेगा, इसलिये राजा को चाहिये उस मनुष्य को मंत्री बनाना चाहिये जिसके रहस्य उस पर प्रकट न हों।" पाराशर का कहना है "मंत्री उसको बनाना चाहिये जो कठिन समय में राजा का विश्वासपात्र रहा हो" पिशुना का कथन है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे केवल भक्ति जारी होती है, बौद्धिक योग्यता नहीं। मंत्री उन्हें नियुक्त करना चाहिये जो अगर आर्थिक विभाग पर रखे जावें तो हमेशा की आमदनी से ज्यादा आमदनी करके दिखला दें और जिनकी योग्यता बडी चढी हो। कौनपदंत (Kaonapdant) का कथन है "केवल उपरोक्त बात ही काफी नहीं है, क्योंकि ऐसे मनुष्य मंत्रियों के दूसरे गुणों से विहीन होते हैं, अतएव ऐसे मनुष्यों को मंत्री नियुक्त करना चाहिये जिनके बाप दादे भी मंत्री रहे हों, क्योंकि ऐसे मनुष्यों को भूतकालिक घटनाओं का ज्ञान होने से और राजा के साथ उनका पुश्तों से संबंध होने से, सताये जाने पर भी वे राजा को नहीं छोडते। वातव्याधि कहता है, नहीं

ऐसे मनुष्यों को नियुक्त करने से वे राजा पर प्रभुत्व जमा लेते हैं और उसकी शक्तियों को हडप जाते हैं, अतएव उसे ऐसे मनुष्य नियुक्त करने चाहिये, जो नये हों और जिन्हें राजनैतिक विज्ञान का सैद्धान्तिक (Theoretical) ज्ञान हो और जिसे व्यावहारिक राजनीति का कुछ अनुभव न हो, उसके द्वारा शासन कार्य में भयानक भूलें होंगी, अतएव ऐसे मनुष्य को मंत्री नियुक्त करना चाहिये जो उच्च कुल में जन्मा हो, बुद्धिमान् हो, पवित्र उद्देशवाला हो, शूरवीर और राजभक्त हो" गुणों ही पर मंत्रियों की नियुक्ति होनी चाहिये। इन सब वादानुवाद के बाद चाणक्य ने अपना मत निश्चित किया। इन सब उपरोक्त मतों में सत्य का अंश है, मंत्री की योग्यता उसके काम करने की योग्यता से जानी जाती है।

मंत्री के कर्तव्यों के विषय में अग्नि पुराण में कहा है "वह राज्य के हरएक कारोबार पर विचार करे, राज्य की केवल वर्तमान कालिक आवश्यकताओं ही नहीं, पर भावी आवश्यकताओं को सोचे। रॉयल एक्सचेकर का निरीक्षण करे, दीवानी और फौजदारी कानूनों के मसविदे तैयार करे, अपने राज्य में अन्य शक्ति के हस्तक्षेप को रोके, अशांति और गडबड को रोके, राजा और देशकी रक्षा करे। आवश्यकता के अनुसार मंत्रीगण नियुक्त किये जाते थे। चाणक्य छोटीसी केबिनेट का पक्षपाती है। चाणक्य का कथन है "राजा को तीन या चार मंत्रियों से सलाह मशविरा करना चाहिये। कठिन मामलों में एक मंत्री की राय से संतोषकारक निर्णय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक मंत्री अपनी खुशी से चाहे जैसा बेलगाम चलता है, अगर राजा के दो मंत्री हों तो, वे दोनों मिल कर राजा को बुरी तरह गांठ लेंगे और उनके संयुक्त षड्यंत्र से राजा को नुकसान पहुंचने की संभावना है। इसलिये राजा को

तीन या चार मंत्री नियुक्त करना चाहिये, जिससे उसपर आफत न आवे और किसी कठिन मामले में भी वह संतोषकारक निर्णय पर पहुंच जावे। मनु महाराज का कथन है कि मंत्रिगणों की संख्या छः या सात होनी चाहिये। मुनि सोमदेव सूरी का कथन है मंत्रियों की संख्या विशेष होनी चाहिये क्योंकि इससे सबकी बुद्धि के यौगिक प्रयत्न से वे राज्य की इज्जत और आमदनी को बहुत बढा सकेंगे, अगर एक ही मंत्री में शासन के सब गुण हों तो, एक ही को या दो को रखने में भी कोई हानि नहीं 'नीति वाक्यामृत' में लिखा है राज्य में तीन पांच या सात मंत्री होने चाहिये।

हमने इस अध्याय के आरम्भ में भिन्न २ विभागों के मंत्रियों के पदों का नामोल्लेख किया है, इनमें प्रधान सबसे ऊंचे दर्जे का मंत्री होता था।

आजकल चीफ मिनिस्टर शब्द जिस अर्थ में आता है उसी अर्थ में पहिले प्रधान शब्द आता था। रियासत में इसका सबसे बडा दर्जा रहता था। इसके दूसरे नम्बर पर पुरोहित मंत्री की भी बडी प्रतिष्ठा थी। अत्रेय ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है कि "पुरोहित राजा का रक्षक है" चाणक्य लिखता है "जैसे शिष्य गुरु का अनुकरण करता है, जैसे पुत्र पिता की आज्ञा मानता है, जैसे नौकर अपने स्वामी की आज्ञा पालन करता है, वैसे ही राजा को पुरोहित की आज्ञा माननी चाहिये" नीति वाक्यामृत में कहा है "प्रधान और पुरोहित राजा के माता पिता हैं" कभी २ इन दोनों कामों को एकही मंत्री करता था।

इनके अतिरिक्त अमात्य, सचिव, पंडित, सुमंत्रक आदि राज्य के कई बडे २ ऑफिसर रहते थे। इनके जिम्मे जुदे २

विभाग रहते थे। सचिव (Finance Minister) का कर्तव्य राज्य की आमदनी इकट्ठा कर उसकी योग्य व्यवस्था करना था। खजांची (सन्निधता) का यह कर्तव्य था कि वह राज्यके धन की रखवाली रखे। राज्य का खजाना, जेवर, जवाहिरात आदि सब इसके सुपुर्द रहते थे। इसका यह भी काम था कि वह यह देखे कि राजा के धनका दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है। दूसरा महत्व-शाली अफसर सुमंत्रक (Foreign Minister) था। विदेशीय शक्तियों के साथ लिखा-पढ़ी करना और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का बुद्धिमत्तापूर्वक निर्णय करना इसका काम था। प्राड्विवाक (Judicial Minister) रॉयल कोर्ट का अध्यक्ष रहता था और वह न्याय विभाग के मंत्री का भी काम करता था।

हरएक मंत्री अपने २ विभाग की व्यवस्था करता था, और सब मंत्रियों की मिलकर मंत्री सभा होती थी जो सर्वसामान्य राज्य सम्बन्धी मामलों पर विचार करती थी।

मंत्रिगण अपने कार्य के लिये जिस प्रकार राजा के सामने जिम्मेदार होते थे, वैसे ही परोक्ष रूप से लोगों के सामने भी जिम्मेदार होते थे।

सुप्रसिद्ध प्रवासी ह्युएनसांग ने अपने प्रवास वर्णन में एक कहानी लिखी है जिससे यह बात सिद्ध होती है। उस कहानी का मर्म यह है—

श्रावस्ती के राजा विक्रमादित्य के हृदय पर दान और उदारता की भावना ने बेहद राज्य कर लिया, उसने अटूट दानके द्वारा गरीबों, अनाथों और दुखियों की खूब इच्छा पूरी की। एक दिन उसने अपने मंत्रियों को हुक्म दिया कि वे रोज पांच लाख

सोने की मुहरें बांटा करें, इसपर खजांची बहुत डरा और सोचने लगा कि इससे तो खजाना खतम हो जायगा। उसने राजा से कहा "आपका इस तरह तो खजाना खाली हो जायगा, तब आपको कर बढाना पडेगा और इससे प्रजाकी ओर से शिकायत की आवाज सुन पडेगी और दुश्मनी के भाव खडे होंगे, श्रीमान् अपने दान के लिये, यश प्राप्त करेंगे, पर आपके मंत्रिगण सब प्रतिष्ठा खोदेंगे।" अशोक ने एक वक्त अपने मंत्री को आज्ञा दे दी थी कि वह सब खजाना दान कर दे, पर मंत्री ने इससे साफ इन्कार कर दिया, इससे साफ साबित होता है कि पहले मिनिस्टर केवल राजा के अन्धाधुन्ध हुक्म की ओर उतना ध्यान न देकर अपनी जिम्मेदारी की ओर ज्यादा ध्यान देते थे। मंत्रीगण केवल स्वकार्यों के लिये भी जिम्मेदार समझे जाते थे। सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक मुद्रा राक्षस में लिखा है "अगर कोई खराब काम राजा से होजावे तो इसका अपराधी मंत्री होता है, क्योंकि हांकनेवाले की बेपरवाही से हाथी गैर रास्ते जाता है, जब हर्षवर्धन विश्वासघात से मारा गया तब उसके मंत्रियों ने कहा कि इसका सब दोष हम लोगों पर है। अगर हम हर्षवर्धन को विदेशी राजा के डेरे में अरक्षित रूप में न जाने देते, तो वे नहीं मारे जाते।"

राज्यों में मंत्रियों के अधिकार बड़े विशाल रहते थे, पर तिस पर भी जब कोई राज्य नाबालिगी में गिर जाता, तब तो इनके अधिकार बेहद बढ जाते थे, जब राजा की मृत्यु के पीछे किसी झगडे के कारण सिंहासन खाली हो जाता तब तो इनकी खूब बन पटती थी। ये लोग राज्यकर्ता हो जाते थे। चाणक्य ने जो कि मंत्री था, चंद्रगुप्त को मगध के राज्य सिंहासन पर बैठाया था। कन्नौज के राजा राज्यवर्द्धन के पीछे, हर्ष किस प्रकार राज्यगद्दी पर बैठाया गया इसका वृत्तांत इस प्रकार है।

"कन्नौज के प्रधान मंत्री ने सब मंत्रियों को इकट्ठा कर सभा की, और कहा [illegible] राष्ट्र के भाग्य का फैसला करना है। हर्ष का सम्बन्ध राज्य कुटुम्ब से है, अतएव लोग उस पर विश्वास करेंगे। मैं प्रस्ताव करता हूं कि वह सम्राट् के अधिकार ग्रहण करे। आपमें से प्रत्येक महानुभाव इस विषय पर अपनी रायदें" इसके बाद प्रधान मंत्री ने हर्ष को राज्याधिकार ग्रहण करने का आदेश दिया और कहा "लोगों ने गायन के द्वारा जैसा अपना मत प्रकट किया है, उससे मालूम होता है कि वे आप के गुणोंपर मुग्ध हैं। अतएव देश पर परम गौरव के साथ राज्य कीजिये।" सीलोन द्वीप के एक शिलालेख से मालूम होता है कि मंत्रीयों ने लीलावती को सीलोन की रानी चुनी थी। और फिर उन्होंने उसे राज्यच्युत भी करदी थी। पहिले जमाने के राजा की गैर मौजूदगी में अस्थायी रूप से प्रधान मंत्री राज्यशासन करते थे और बहुत बुद्धिमता के साथ करते थे। जोधपुर के राजा अजीतसिंह जब किसी आवश्यक कार्य के लिये दिल्ली गये थे तब कुछ मास तक उनके प्रधान मंत्री रघुनाथसिंह भंडारी ने राज्यशासन किया था। सुप्रसिद्ध इतिहासवेता टॉड साहब ने अपने "राजस्थान में लिखा है" महाराज अजीतसिंह अपने दीवान रघुनाथ भंडारी को राज्यशासन का कार्य सौंपकर दिल्ली गये, टॉड साहब ने इसी ग्रंथ 'राजस्थान' में रघुनाथसिंह भंडारी के लिये मारवाड में प्रचलित इस दोहे को भी उद्धृत किया है।

"अजे दिल्ली रो बादशाव।
राजा तू रघुनाथ"

इसका आशय यह है कि महाराज अजीतसिंह तो दिल्ली के बादशाह पाल है और इस वक्त रघुनाथसिंह राजा है।

यद्यपि हरएक मंत्री का पद उत्तरदायित्वपूर्ण होता था, पर सब से अधिक उत्तरदायित्व प्रधान मंत्री का रहता था। राज्य के अच्छे शासन के लिये वही जिम्मेदार रहता था। अगर राजा प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् न होता तो प्रधान मंत्री ही वास्तविक शासनकर्ता रहता था। चाणक्य ने कहा है कि " लोगों के कार्य, विदेशी हमलों से राज्य की रक्षा, दुःखनिवारण के उपाय, जमीन का सुधार, फौज का कायम रखना, राज्य की आमदनी जमा करना आदि सब कार्यों पर देख रेख प्रधान मंत्री की रहती थी " भरद्वाज का कथन है कि " राज्य में प्रधान मंत्री सब से अधिक महत्वशाली है, क्योंकि प्रधान मंत्री के अभाव में राजा बिना पर के पक्षी की तरह निकम्मा है" चाणक्य के मतानुसार राजा से दूसरे नंबर पर प्रधान मंत्री का पद है।

योग्य और जोरदार मंत्री का प्रभाव राजा पर बहुत रहता था, मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का जो सम्बन्ध बतलाया है उससे उपरोक्त बात सिद्ध होती है। वहां कहा गया है कि मंत्री की मार्गदर्शकता बिना सम्राट् बिलकुल लाचार होजाते थे, वे (सम्राट् चन्द्रगुप्त) चाणक्य की सलाह बिना छोटा बडा कोई काम हाथ में नहीं लेते थे। सम्राट् अपने की यहांतक इज्जत करते थे, कि जब दोनों मिलते थे, तो सम्राट् अपने मंत्री के पैर छूने लगते।"

मंत्री के लिये शुक्रनीति में कहा गया है कि जिन मंत्रियों से राजा नहीं डरता वे मंत्री केवल भूषण वस्त्रादिकों से सुसज्जित स्त्रियों की नांई हैं। शुक्रनीति में ये भी महत्वपूर्ण वचन कहे हैं—

" हितं राजश्च चाहितं यल्लोकानां तन्न कारयेत् "

अर्थात् जिन बातों में राजा का हित हो; किन्तु प्रजा का अनहित हो उन्हें न करना चाहिये ।

प्राचीन भारत में लोकसभाएँ ।

हमारे प्राचीन बौद्ध, हिन्दू और जैन ग्रन्थों में लोक-सभाओं के जगह जगह उल्लेख मिलते हैं । हां, यह बात सच है कि इस का रूप पाश्चात्य पार्लियामेंट और सिनेट से जुदा था पर स्वाधीनता और लोक-सभा के जिन उदार तत्वों पर पार्लियामेंट और सिनेट स्थापित की गई हैं, उन्हीं उदार तत्वों पर हमारी लोक-सभाएं भी थीं । जो लोग यह कहते हैं कि भारत अनादि काल से एकतंत्री शासन की चक्की में पिसता आरहा है, वे या तो भारत के गौरवशाली इतिहास से एकदम अनभिज्ञ हैं, या द्वेष और घृणा से वे इतने अंधे होगये हैं कि उन्हें सफेद वस्तु भी काली दिखलाई पड रही है । इस अध्याय में हम यह दिखलाना चाहते हैं कि वैदिक तथा बौद्ध काल में हमारी लोक-सभाओं का कैसा जोरशोर था और राजा को लोक-सभाओं की आज्ञानुसार किस प्रकार चलना पडता था । ऋग्वेद १०।१६६।४ में कहा है—

अभिभूरहमागं विश्वकर्मेण धाम्ना ।
आवश्चित्तमावो व्रतमावोऽहं समितिर्ददे ॥

"(हे लोकसभा के सभासदों) सर्व प्रयत्नों से विजयी और तेजस्वी होकर मैं आया हूं । तुम्हारे विचार, तुम्हारे व्रत, तुम्हारी सभा इनको मैं स्वीकार करता हूं । ऋग्वेद ३।३८।६ में कहा है—

त्रीणिराजाना विदेथ पुरूणि परि
विश्वानि भूषथः सदांसि

अर्थात् राजे तीन विस्तृत सभाएं करते हैं, तथा उन सभाओं को स्वयं जाकर सुशोभित करते हैं" ऋग्वेद २-४-१५ में कहा है–

"राजाना बन भिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमें।
सहस्रस्थूण आसोन

अर्थात् जो राजे अनेक स्तंभों से युक्त, उत्तम और दृढ सभामें बैठते हैं, वे परस्पर अभिद्रोह करनेवाले नहीं होते"

सभ्य:सभामें पाहियेच सभ्या: सभासद १ अथर्व० १९-५५-५

अर्थात् हे सभ्य सभासदों मेरी सभा की रक्षा करो।

सविशोनु व्यचलत ॥ १ ॥
तं सभाच समितिश्च सेनाच
सुरायाश्चवै स समितिश्च सेनायाश्च
सुरायाश्च प्रियंधाम भवति य एवं वेद ३ ॥
अथर्ववेद १५-९

अर्थात् जो राजा प्रजातंत्रता से चलता है, प्रजा, समिति सेना तथा सुरा (ऐश्वर्य) उसके अनुकूल चलती है। सभा, समिति सेना सुरा का [illegible] करना है, जो यह (उपरोक्त नियम) को जानता है।

राष्ट्री विशमत्ति-तस्माद
राष्ट्री विशंघातका: ॥ शतपथ ब्राम्हण १५

अनियंत्रित राजा प्रजाको खाकर छोड देता है, अतएव अनियंत्रित राजा प्रजाका घातक है।

राजा न सत्यं समिति रियान:

अर्थात् समिति-लोक सभामें जानेवाला राजा ही सत्य श्रेष्ठ समझना चाहिये।

उपरोक्त मंत्रों से वैदिक समय में लोक सभाओं का अस्तित्व भली प्रकार सिद्ध होता है। प्रोफेसर मेकडॉनल का कथन है कि राजा लोकसभा में जाता था, और वह वहां चुना जाता था, बौद्धकाल में ये लोक सभाएं संस्थाएं बन गयी थीं. इस-समय इनका पूरा जोर था। अजात शत्रुने जब बीजी लोगोंके नाश करने की इच्छा से अपने मंत्री को भगवान् बुद्धदेव के पास भेजा, तब भगवान् ने अपने एक शिष्य की तरफ मुँह फेरकर कहा आनन्द तुमने सुना है कि लोग हमेशा लोकसभाएं करते हैं" इस पर आनन्द ने कहा "हां भगवन् यह बात तो मैंने सुनी है" इस पर भगवान् ने कहा "आनन्द जबतक ये लोग सभाएं करते रहेंगे, तबतक इनका कभी विनाश नहीं होसक्ता, वरन इनका विकास और उन्नति होती रहेगी।

बात यह है कि बौद्धकाल में लोकसभाओं का अच्छा प्रचार था और इनकी शक्तियां और अधिकार भी बढे हुए थे, कपिलवस्तु में पार्लियामेंट की तरह एक बडी भारी लोक प्रतिनिधि सभा थी, जिसमें राष्ट्रीय महत्व के सब प्रश्नों पर वादानुवाद होकर योग्य निर्णय होता था। प्रो० रिसडेव्हेड्ज "अपने बौद्धभारत" (Buddhistic India) में लिखते हैं "भारत के वे हिस्से जो बुद्ध धर्म के प्रभाव में सबसे पहिले आये उनमें कई रिपब्लिक थे और चार बडे २ साम्राज्य थे" येही प्रोफेसर महोदय बौद्धकाल की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि "इस समय अपराध नहीं हुआ करते थे और उस समय का हरएक गांव एक छोटीसी रिपब्लिक था" आगे चलकर आप फिर फर्माते हैं, ये सब

रिपब्लिक संस्थाएं सुसंगठित थीं, इन लोकसभाओं का कार्य्यक्रम किस ढंगसे चलता था, किसी बातका निर्णय व्होट्स के द्वारा होता था, साधारण सम्मति से होता था, इस विषय में ठीक २ कुछ भी नहीं कहा जासक्ता, पर जहांतक जान पडता है, बहु सम्मति का नियम उस समय भी अप्रचलित न था, इससे अगर यह अनुमान कर लिया जावे कि उस वक्त बहुसम्मति ही के द्वारा किसी बातका निर्णय होता होगा तो कुछ अनुचित न होगा। इन सभाओं के अध्यक्ष का किस तरह निर्वाचन होता था, इसका भी ठीक २ पता नहीं चलता है, पर उस समय की परिस्थिति का विचार करते हुए, यह माळूम होता है कि उम्र, बुद्धि, विद्या और चरित्र के लिहाज से यह चुनाव किया जाता होगा।

बौद्ध काल में यद्यपि बडे २ राज्य स्थापित हो गये थे, पर इनके साथ २ रिपब्लिक संस्थाओं का भी अच्छा प्रचार था, राजाओं के राज्य में भी लोकसभाओं का बडा महत्व समझा जाता था। बौद्ध काल के इतिहास में ऐसे भी उदाहरण पाये जाते हैं कि कभी २ राजा से घबरा कर या अन्य कारणों से जनता उन्हें हटाकर अथवा निकालकर पुनः जनसत्ता का राज्य स्थापित कर देती थी। उत्तर और दक्षिण भारत में जनसत्तात्मक कई राज्य थे। लिच्छवी राज्य के हरएक निवासी के अधिकार समान थे। चाणक्य के सदृश पंडित को भी यह जानना कठिन होगया था, कि किसको राजा कहें और किसको प्रजा। इस कठिनाई को उसने यह कहकर दूर किया कि "लिच्छवी" लोगों में ७०००० नेता ऐसे हैं, जो अपने को राजा कहते हैं। शाक्य वंश में भी जनसत्ता प्रबल थी। कपिल वस्तु के संथागार में छोटे बडे सब लोग बैठकर राष्ट्रीय और सामाजिक विषयों का निर्णय करते थे।

बात यह है कि बौद्ध कालमें कहीं २ तो राज्यसत्ता प्रजा सत्ता द्वारा मर्य्यादित थी । बौद्ध काल के बाद भी गुप्त वंशीय सम्राटों के समय, अर्थात् चौथी पांचवीं शताद्धि में, छोटी २ रिपब्लिक संस्थाएं पूरे जोर पर थीं । इस समय भी प्रजातंत्र के भाव जोर पकडे हुवे थे । सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता विनसेन्ट स्मिथ का कथन है—"पंजाब, पूर्वीय राजपूताना और मालवा ऐसी जातियों के ताबे में थे, जो रिपब्लिक बनाकर शासन करती थी, गुप्त काल के बाद भी सम्राट् श्रीहर्ष के समय में यह तत्व अच्छी तरह अमल में था कि "राजा लोगों के लिये है, लोग राजा के लिये नहीं । सम्राट् श्रीहर्ष का चुनाव किस प्रकार हुआ. इसके विषय में हम पहिले कह चुके हैं, यहां दुहराने की आवश्यक्ता नहीं।

भारत में विशुद्ध प्रजातंत्र.

हमने ऊपर जो विवेचन किया है उसमें वैध राज्य पद्धति (Constitutional monarchy) लोगों के द्वारा राजा का चुनाव तथा लोकसभा आदि विषयों का समावेश हुआ है, कहीं २ रिपब्लिक संस्था आदि विशुद्ध प्रजातंत्र का भी वर्णन आगया है, पर यह वर्णन अत्यन्त अपूर्ण है । इस पर कुछ विस्तार के साथ हम यहां विचार करना चाहते हैं । ऊपर के विवरण से पाठकों को यह तो अवश्य मालूम होगया होगा कि वैदिक काल में राजा लोग प्रजा द्वारा किस प्रकार चुने जाते थे, उनकी शक्तियां लोकसत्ता द्वारा किस प्रकार मर्य्यादित थीं, अपराध होने पर प्रजा के द्वारा राजा किस प्रकार राज्यच्युत किये जाते थे। लोक सभाओं में जाना तथा लोक सभा के उपदेशानुसार कार्य्य करना किस प्रकार राजा के लिये आवश्यक था, लोकसभाओं की कितनी बडी शक्ति थी आदि २ पर यहां हम यह दिखलाना

चाहते हैं कि वैदिक कालमें तथा बौद्ध काल में कई जगह ऐसे राज्य थे. जिनमें राजा नहीं होते थे। सारा कारोबार प्रजा के प्रतिनिधि ही चलाते थे, अमेरिका की तरह साधारण ही लोगोंमें से कोई योग्य प्रेसिडेन्ट चुन लिया जाता था। एक राजा का शासन खतरनाक समझा जाता था, यजुर्वेद १६-२४ का भावार्थ इस विषय में स्मरण रखने योग्य है। वह इस प्रकार है—"मनुष्यों को चाहिये कि सभा और सभापतियों ही से राज्य की व्यवस्था करें, कभी एक राजा की स्वाधीनता से स्थिर न हो, क्योंकि एक पुरुष से बहुतों का हिताहित का विचार कभी नहीं हो सकता—वेद-भाष्य (स्वामी दयानन्द कृत) ५३९ पृष्टपर लिखा है " राज्य का प्रबन्ध सभाधीन ही होने के योग्य है " आगे चलकर फिर इसी वेद में कहा है " इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य्य, वरुण और धनाढ्यों के गुणों से युक्त विद्वानों का प्रिय, विद्या का प्रचार करनेवाला सबको सुख देवे उसीको सभापति मानना चाहिये।"

(६०१) "जो सब गुणों से उत्तम हो. उसे सभापति करे।

(६३३) प्रजाजनों को योग्य है कि जो सर्वोत्तम, समस्त विद्याओं में निपुण, सकल शुभ गुणयुक्त, विद्वान् शूरवीर हो को सभा के प्रधान काम में स्थापित करें।"

इस प्रकार यजुर्वेद में कई मंत्र आये हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि आजकल अमेरिका में सभा पर जिस प्रकार प्रेसिडेन्ट रहता है, वैसे ही हमारे भारत में पहले रहता था। वंशपरम्परा राज्यपद्धति का कई जगह अभाव था। झीमर आदि कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है कि वैदिक काल के भारत में कई जगह विशुद्ध प्रजातंत्र राज्य थे। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्वर्गीय रमेशचन्द्रदत्त ने अपने भारत की प्राचीन सभ्यता के इति-

हास में ईसवी सन पूर्व ६०० से २२३ साल का हाल लिखते हुए लिखा है—"हिमालय पर्वत और नर्मदा नदी के बीच के देश में हजारों स्वतंत्र राज्य थे, इनमें कितने ही तो राज्य शासित थे और कितने ही लोक शासित। (अर्थात् ये रिपब्लिक द्वारा शासित होते थे) इन पर किसी उच्च शक्ति का अधिकार न था, बाहरी दुनिया से इनका सम्बन्ध न था। श्रीयुत स्वर्गीय दत्त ही ने सुप्रसिद्ध प्रवासी ह्यूएनसांग का कपिलवस्तु विषयक वर्णन उद्धृत किया किया है। उससे मालूम होता है कि उस समय कई जगह राजा न थे और हरएक ग्राम अपना शासक आप नियुक्त कर लेता था।

जिन्हें आजकल हम रिपब्लिक के नाम से पुकारते हैं, उन्हें बौद्ध काल में संघ और गण के नाम से पुकारते थे। इन संघों का कार्यक्षेत्र रिपब्लिक की तरह विशाल था। कुछ भाष्यकारों ने संघ और गण का अर्थ सभा किया है, पर श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल एम. ए. बैरिस्टर ने महाभारत के शान्तिपर्व का हवाला देकर के यह सिद्ध किया है कि ये संघ शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध विघोषित करते थे, शत्रुओं से सुलह करते थे, अपने राज्य की नीति निश्चित करते थे, कर वसूल करते थे, मतलब यह कि ये सब काम करते थे, जो राष्ट्र करते हैं। कौटिल्य ने खम्भोज सुराष्ट्र और दूसरे देशों के वीरों के संघ का जिक्र किया है ये सब संघ रिपब्लिक की तरह थे, उसने लिच्छिविक, वृज्जिका आदि के संघों का वर्णन करते हुवे, उनका कार्यक्रम वैसा ही बतलाया है जैसा आजकल की रिपब्लिक का होता है। भगवान् बुद्धदेव के समय में जो रिपब्लिक संस्थाएं थीं उनके विषय में हम पहले लिख चुके हैं। भगवान् बुद्धदेव प्रजातंत्र के कितने पक्षपाती थे यह बात उनके उस कथन से प्रकट होती है, जो उन्होंने अपने

शिष्य आनन्द के सामने वज्जिन लोगों की समिति के लिये प्रकट किया था।

शासन के उपविभाग.

हमने गत अध्यायों में भारत के प्राचीन शासन के कई महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। हमने यह दिखलाया है कि यहां जनसत्ता का किस प्रकार जोर था, राजा लोग किस प्रकार निर्वाचित किये जाते थे, तथा उनके नालायक निकल जाने पर वे किस तरह राज्यच्युत कर दिये जाते थे। लोक-सभाओं के द्वारा राजा की शक्तियां किस प्रकार मर्य्यादित थीं और राजा को किस प्रकार लोक सभाके मताधीन रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त मंत्रियों के चुनाव, उनके गुणों और कर्तव्यों के विषय में भी हमने धर्मशास्त्रों के प्रमाण देकर थोड़ा बहुत विवेचन किया है। अब यह देखना है कि मंत्रियों के हाथ के नीचे के अन्य विभागों की पहिले किस प्रकार रचना थी। मंत्रीगण तो राज्य की नीति को संचालित करते थे तथा महत्वपूर्ण कामों को देखते थे। अन्य फुटकल कामों के लिये किस प्रकार का प्रबन्ध था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता लगता है कि राज्य का साधारण और फुटकल काम मातहत अधिकारियों के हाथ में रहता था और ये लोग मंत्रियों की अधीनता या देखरेख में काम करते थे, राज्य का शासन अनेक विभागों में विभक्त था और हरएक विभाग पर एक २ सुपरिन्टेन्डेंट रहता था। चाणक्य ने इस प्रकार शासन के मुख्य अठारह विभाग (अष्टादशतीर्थ) बतलाये हैं। इनके अतिरिक्त छोटे मोटे और कई विभाग थे।

प्राचीन काल के सरकारी विभाग में अकौण्ट विभाग भी बड़ा ही महत्वपूर्ण था, वह एक सुपरिन्टेन्डेंट के आधीन रहता था।

यह सुपरिन्टेन्डेंट अकौन्टंट सब अकौन्टंट मुद्रापरीक्षक आदि कई अधिकारियों की नियुक्ति करता था। सुपरिन्टेन्डेंट का यह कर्तव्य था कि, वह राज्य की हिसाब वहियों को खूब व्यवस्थित रूप से रखे और यह बात देखता रहे कि, राज्य के धन का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है। राज्य के भिन्न भिन्न विभाग के अधिकारी इसके पास अपना हिसाब भेजते थे और सुपरिन्टेन्डेन्ट उन हिसाबों की जांच कर जमा खर्च करता था। बात यह है कि, आजकल अकौन्टंट जनरल का जो खर्च कर्तव्य है, वही पहिले सुपरिन्टेन्डेन्ट (निरीक्षक) का था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा है " हरएक आषाढ मास में भिन्न २ विभागों के हिसाब सुपरिन्टेन्डेंट के पास जमा खर्च के लिये उपस्थित किये जाते थे। जो अफसर ठीक वक्त पर इन्हें उपस्थित न कर सक्ता उस पर दंड होता था। "

खजाने के सुपरिन्टेन्डेन्ट का यह कर्तव्य था कि वह खजाने में या जवाहिरखाने में रुपया, पैसा, सोना, चांदी, हीरा, माणिक, मोती, आदि तरह २ की जवाहिरात या अन्य वस्तुएं सम्भाल कर सावधानीपूर्वक रखता था। इनकी तमाम जिम्मेदारी उस पर थी, वह खेती की उपज का, महसूल का, जमीन की या व्यापार से होनेवाली आमदनी का भी हिसाब रखता था। सब प्रकार की वस्तुओं के गुण और मूल्य को जानना भी इसके लिये आवश्यक था। इसके लिये यह भी आवश्यक था कि, जहांतक बन पड़े खजाने या जवाहरखाने की रकमों को इस प्रकार काम में लावे

जिससे रिझर्व में आधा सामान हमेशा बना रहे जो किसी अत्यन्त आवश्यक समय पर काम में आसके।

राज्य की खानों पर भी एक सुपरिन्टेन्डेंट रहता था। वह राज्यकी खदानों का निरीक्षण किया करता था, और नयी २ खदानों को ढूंढ निकालने के लिये खोज किया करता था। यह इन कामों में बडा पारंगत रहता था। खदानों से निकलनेवाली वस्तुओं की उपयोगिता और मूल्य की भी यही जांच किया करता था, हीरा, माणिक, मोती आदि जवाहिरात की परीक्षा करना भी इसका काम था।

धातुएं तथा धातुओं से बननेवाली चीजों पर भी सुपरिन्टेन्डेंट रहता था। धातुओं का किस २ प्रकार उपयोग किया जाना चाहिये, अभी किस २ प्रकार के धातुओं के बर्तनों की ज्यादा खप है, इन सब बातों की यह देखरेख किया करता था।

टकसाल का जुदा ही सुपरिंटेंडेंट रहता था, वह अपनी देख-रेख में सोना, चांदी और तांबे के सिक्के पडवाता था। करंसी विभाग भी इसके जिम्मे था, एक्सचेंज आदि के प्रश्नों पर विचार करना खास तौर से इसका काम था।

व्यापार विभाग पर भी सुपरिंटेंडेंट रहता था, देश की उपज और खपत तथा देश की आर्थिक आवश्यकताओं पर विचार करना इसका काम था। चीजों के मूल्य की घटाबढी पर भी इसे विचार करना पडता था, अपने देश की बनी हुई चीजों के लिये विदेशों के तथा स्वदेश के लाभकारक बाजारों को ढूंढना भी इस-का काम था।

जंगल विभाग के सुपरिंटेंडेंट का यह काम था कि राज्य के जंगल की और उसमें पैदा होनेवाली वस्तुओं की वह व्यवस्था करे, जंगल में पैदा होनेवाली वस्तुओं के मूल्य को भी वह निर्धारित करता था।

अस्त्रशस्त्रों के विभाग के सुपरिंटेंडेंट का यह कर्तव्य था कि वह अस्त्र, शस्त्र तथा युद्ध में काम आनेवाले औजारों के निर्माण के कामपर देखरेख रखे। अपनी रक्षा के लिये किले बनाना, और शत्रु के किले को नष्ट करने की स्कीम बनाना भी इसका काम था। यह देखते रहना भी उसका कर्तव्य था कि इस समय किस २ प्रकार के हथियारों की अधिक आवश्यकता है, उन हथियारों को तैयार करवाना, फौज में योग्य रीति से उन्हें बांटना, नये हथियारों का सैनिकों को उपयोग दिखलाना, आदि कई काम इसके जिम्मे थे।

तौल के बाटों पर तथा नाप के गजों पर भी सुपरिंटेंडेंट रहता था। वह हर तरह के तौल के बाट या नाप के गज बनवाता था, खोटे बाटों के प्रचार को रोकना भी इसका काम था। एक अन्य सुपरिंटेंडेंट रहता था, जो समय और अवकाश को दिखलानेवाले यंत्रों को बनवाता था, तथा उनकी देखरेख रखता था।

इस प्रकार और भी अनेक विभागों पर सुपरिंटेंडेंट रहते थे। जहाजी विभाग, खेती विभाग, औद्योगिक विभाग, धर्मादा विभाग आदि कई विभागों के जुदे २ सुपरिंटेंडेंट रहते थे।

मुल्की विभाग में पुलिस का विभाग बडे महत्व का समझा-जाता था। पुलिस का कर्तव्य दुहरा था, अपराधियों को पकडकर

सजा दिलवाना जिस प्रकार पुलिस का कर्तव्य था, वैसे ही अपराधों को रोकना भी पुलिस का कर्तव्य समझा जाता था, जिन लोगों का चरित्र सन्देहयुक्त होता था, उन सब पर पुलिस को निगाह रखनी पडती थी, जब कोई चोरी होजाती और पुलिस अफसर उसकी खोज न लगा सकते तो उन्हें उस चोरी के नुकसान की भरपाई करना पडती थी। गौतम का कथन है–" चोरों से चुराई हुई मिल्कियत यदि मिल जाती तो वह (राजा) उस मिल्कियत को मालिक के पास लौटा देता, यदि चोरी का पता नहीं लगता तो राजा को अपने खजाने से नुकसान भरपाई करना पडता था।"

अग्नि-पुराण में कहा है " राजा को चाहिये कि वह चोरी गये हुये माल का मूल्य मालिक को (जिसके यहां चोरी हुई है उसे) दे दे और पुलिस अफसरों की तनख्वाह से उसे वसूल करले " इस प्रकार का प्रबंध होने से पहले पुलिस का इन्तजाम कितना बढिया रहता होगा इसका अनुमान पाठक स्वयं करलें.

पुलिस विभाग के साथ २ खुफिया पुलिस का भी विभाग था। यह विभाग एक मिनिस्टर की अधीनता में था। इस मिनिस्टर को प्रायः कलेक्टर जनरल कहा करते थे। इस विभाग में कई रिपोर्टर रहते थे जो पुलिस को अपराधियों की खोज बतलाते थे. ये खुफिया के रिपोर्टर प्रजाजनों में मिल जुलकर राजा को प्रजा के राजनैतिक भावों से वाकिफ करते रहते थे। इसके साथ २ अधिकारियों के आचरणों को भी ये देखा करते थे, और इसकी रिपोर्ट भी राजा के पास किया करते थे। दूसरे राज्यों के षड्यंत्रों की भी ये खबर रखते थे और दूसरे राज्य का अपने राज्य के खिलाफ कोई षड्यंत्र होता तो इसकी इत्तिला वे तुरंत अपने राजा

को दे देते थे। वे व्यापारी, यति, गायक, भिखारी आदि के भेष में दूर २ देशों में जाते थे। और वहां की सब मतलब की खबरें अपने राजा को दिया करते थे, पर इस बातकी पूरी खबरदारी रखी जाती थी, कि खुफिया रिपोर्ट झूंठी खबर न देदे। झूंठी खबर देनेवाले को सख्त सजा मिलती थी, चाणक्य मंत्रियों को चेताते हुवे कहता है—" अगर तीन स्वतंत्र जरियों से मिली हुई खबर एक हो, तो उसे सच मानना चाहिये, अगर ऐसा न हो और रिपोर्टरों की खबर गलत हो तो, उन रिपोर्टरों को या तो सजा देना चाहिये या उन्हें बरखास्त करदेना चाहिये " इन रिपोर्टरों से सरकार को बडी सहायता मिलती थी, विश्वसनीय मनुष्य इस विभाग में रखे जाते थे, ।

हरएक डिपार्टमेंट (विभाग) में लेखक (क्लर्क) संवाददाता और अन्य छोटे अफसर भी रहते थे। यद्यपि हरएक विभाग पर जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, सुपरिन्टेंडेन्ट रहता था, पर उस विभाग पर अन्तिम अधिकार एक कमेटी का रहता था, जिसमें तीन, चार या पांच सदस्य हुआ करते थे। शुक्रनीति कहती है— " हरएक डिपार्टमेन्ट (विभाग) तीन मनुष्यों की कमेटी के आधीन होना चाहिये " सुप्रसिद्ध ग्रीक प्रवासी मेगास्थनिस का कथन है, " हरएक डिपार्टमेंट पांच मनुष्यों की कमेटी के आधीन था, कभी २ इनके अतिरिक्त इन सब विभागों का निरीक्षण करने के लिये और इनका काम ठीक रास्ते पर लाने के लिये इन्स्पेक्टरों या डायरेक्टरों का एक बोर्ड बनाया जाता था।

अधिकारियों को चुनने में उस जमाने में बडी सावधानी रखी जाती थी, योग्यता एवं विशेषज्ञता ही को देखकर अधिकारीगण नियुक्त किये जाते थे। अग्निपुराण में लिखा है: " उस काम में

जिसमें नैतिक गुणोंकी आवश्यक्ता हो धर्मात्मा मनुष्य नियुक्त किये जाने चाहिये। बहादुर आदमियों को फौज में भर्ती करना चाहिये, रेव्हेन्यु से सम्बन्ध रखनेवाले कामों में बुद्धिमान् मनुष्य रखे जाने चाहिये, और सब विभागों में ऐसे मनुष्य रखे जाने चाहिये, जो रिश्वत न खाते हों। उस वक्त पहिले पहिल अफसर प्रोबेशन पर रखे जाते थे, काम सीख जानेपर वे स्थायी कर दिये जाते थे। एक छोटा अधिकारी भी योग्यता के बलपर धीरे २ ऊँचे से ऊंचे पद पर चढ जाता था। इस प्रकार अधिकारियों को काम की शिक्षा देने से और योग्यतानुसार उन्हें तरक्की देते रहने से शासन की दशा अत्यन्त प्रशंसनीय और उन्नत थी।

यहां यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि, सरकारी अधिकारियों की तनख्वाह भी अच्छी रहती थी, जिससे कि उन्हें रिश्वत खाने की जरूरत न पडे। चाणक्य ने लिखा है-—राज्य पुरोहित, राज्यगुरू, प्राइम मिनिस्टर कमांडर-इन-चीफ, युवराज, राजमाता आदिको ४८००० प्रतिसाल मिलते थे। शहर और महल के सुपरिन्टेन्डेन्ट, पुलिस के सुपरिन्टेन्डेन्ट, कलक्टर जनरल तथा ट्रेझरर जनरल को २४००० प्रतिसाल प्राप्त होते थे। अन्य राजकुमार, जज, जुदे २ विभागों के अफसर, कौन्सिल के मेम्बर आदि की तन्ख्वाह १२००० थी। इस तन्ख्वाह का कुछ हिस्सा नगदी से और कुछ अन्य प्रकार से दिया जाता था। कई वक्त अच्छी और इमानदारी की सेवा के बदले में राज्य की ओर से जागीरें भी दी जाती थीं. लंबी सेवाके बाद अधिकारियों और अन्य नौकरों को पेन्शन भी मिलती थी। अगर कोई योग्य अधिकारी मर जाता तो उसके कुटुम्ब को राज्य की ओर से गुजारे के लिये काफी सहायता मिलती थी, नीति वाक्यामृत में लिखा है " जो अधिकारी राज्य की सेवा

करते २ मर गया, उसके कुटुम्ब का पालन करना राजा का धर्म है, अगर राजा ऐसा नहीं करता है तो वह उसका ऋणी रहता है।"

स्थानीय सरकार.

कितने ही इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि इस भारतवर्ष में आर्य्यों के आगमन के पहले ही ग्राम्य स्वराज्य की पद्धति मौजूद थी। एक सुप्रख्यात् विद्वान् का कथन है—

"जब द्राविड लोगों ने उन देशों का शासन भार ग्रहण किया जिनमें पहले कोलेरियन लोग बसे हुए थे, तब उन्होंनें वहां कई सुसंगठित ग्राम्य पंचायतें पायीं, खैर आर्य्यों के आने के पहले की स्थिति पर हम विचार करना नहीं चाहते, क्योंकि इसके लिये न तो अभी उपयुक्त साधन ही प्राप्त होते हैं, और न इसकी अभी आवश्यकता ही है, हम यहां केवल आर्यों के ग्राम्य स्वराज्य के विषयही में दो शब्द लिखना चाहते हैं।

प्राचीन वैदिक काल में ग्रामनिवासीगण अपने २ ग्रामों के कारोबार की स्वयं व्यवस्था करते थे, ये सब स्वशासित थे, ये मध्यवर्ती सरकार की आधीनता में न थे। ग्रामके लोग मिलकर किसी योग्य आदमी को अपना सरपंच बना लेते थे। अन्य अधिकारी भी ग्राम के लोगों के द्वारा ही चुने जाते थे। ये अधिकारी किसी प्रकार स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते थे, ये अपने लोगों के आगे जबाबदार रहते थे। धीरे २ कालके परिवर्तन के साथ २ ये अधिकारीगण राज्याधीन होगये। मनु के समय में ये ग्राम्य अधिकारी राज्य के नौकर समझे जाने लगे और ग्राम्य शासन मध्यवर्ती शासन के आधीन होगया। मनु भगवान ने कहा है—

"उसे हर एक ग्राम पर अधिपति नियुक्त करने दो, इसी प्रकार उसे दस गांवों के, बीस गांवों के, सौ गांवों के और हजार गांवों के अधिपति नियुक्त करने दो। एक ग्राम का अधिपति अपने ग्राम में किये गये अपराधों की सूचना दस ग्राम के अधिपति को दे, दस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के अधिपति को, बीस ग्रामों का अधिपति सौ ग्रामों के अधिपति को और सौ ग्रामों का अधिपति हजार ग्रामों के अधिपति को सूचना दे। विष्णु ने भी लिखा है—हरएक ग्रामपर एक सरपंच होना चाहिये और सौ गांवों का मिलकर एक अधिपति होना चाहिये।"

मौर्य्य राजकाल में मध्यवर्ती शासन का जोर बहुत बढ गया था। हरएक गांवपर इस वक्त सरपंच नियुक्त किया जाता था। इस सरपंच को ग्रामीका, ग्रामाधिप आदि कहते थे। इस सरपंच के जिम्मे कई महत्वपूर्ण काम रहते थे। खेती, बागबगीचे आबपाशी, बांड, धर्मशालाएं, सभागृह, मन्दिर, तीर्थस्थान आदि सबका प्रबन्ध इसे करना पडता था। जमीन तथा सायर का महसूल और जो अन्य आमदनी होती थी, उसका हिसाब भी इसकी देखरेख पर रखा जाता था। ग्रामवासियों के, जातिपांति रोजगारधन्धे आदि सबका हाल इसे अपने रजिस्टर में लिखना पडता था।

मौर्य्य राज्य के मध्यवर्ती शासन में ग्राममण्डल ने अपनी बहुत कुछ शक्ति खो दी थी, फिर भी स्थानीय मामलों का फैसला इन्हीं मण्डलों तथा पंचायतों के द्वारा होता था। ये पंचायतें बडी लोकप्रिय रहा करती थीं और इनमें खास तौर से बडे-बूढे लोकप्रिय, विश्वसनीय और अनुभवी मनुष्य रखे जाते थे। इन पंचायतों के सदस्यों की संख्या निश्चित न थी, जैसा काम

होता उसके मानसे ये लोग इकट्ठे हो जाते थे, इनका मत सारे गांव का मत समझा जाता था। ये ग्राम पंचायतें केवल शासन संबंधी बातों का ही निपटारा नहीं करती थीं, वरन ये छोटे-मोटे दीवानी फौजदारी मामले के लिये न्यायालय भी बनाती थीं, फैसला सर्वानुमति से होता था। अगर कहीं आपस में मतभेद उपस्थित हो जाता तो अधिकांश सम्मति से मामले का फैसला होता था। अगर दो गांवों में सीमा सम्बन्धी कोई झगडा पड जाता तो आसपास के ग्रामों के पंच उसका फैसला कर देते थे।

सरपंच या पटेल ग्राम्य पंचायत का अध्यक्ष रहता था। ग्राम का खास नेता भी यही रहता था। ग्राम्यशासन और मध्यवर्ती शासन का संबंध इसीके द्वारा होता था। इस सरपंच के अधिकार बहुत विशाल थे, यह बदमाशों को या चोरों को गांव से निकल जाने की आज्ञा दे सकता था।

शुक्रनीति में लिखा है कि इस सरपंच (पटेल) के सिवाय गांव पर पांच अधिकारी और रहते थे, पर ये सब पटेल के आधीन रहते थे। पटेल के साथ २ ग्राम के अन्दर शान्ति रखना, और लोगों की उन्नति में सहायता करना इनका कर्तव्य समझा जाता था।

ये ग्राम पंचायतें ग्राम-सुधार में हरएक काम को हाथ में लेती थीं और बडी दिलचस्पी द्वारा उस कार्य को सुसम्पन्न करती थीं। जो लोग ग्राम-सुधार के काम में ज्यादा हिस्सा लेते थे, मध्यवर्ती सरकार की ओर से उन्हें इनाम और उपाधियां मिलती थीं। उनका राज्य की ओर से बडा सम्मान होता था।

ग्रामके अन्तर्गत मामलों में मध्यवर्ती सरकार हस्तक्षेप नहीं करती थी पर हरएक ग्राम पंचायत मध्यवर्ती सरकार का अंश

समझी जाती थी, सरपंच (पटेल) पर सर्कल अफसर (गोप) रहता था जिसके आधीन पांच से लगाकर दस गांव तक रहते थे। इसका काम सरपंचों के काम का निरीक्षण करना था, कई सर्कलों का मिलकर एक डिस्ट्रिक्ट या डिव्हिजन बनता था, जो चाणक्य के मतानुसार प्रान्त (जनपद) का चौथा हिस्सा रहता था। डिव्हिजन या डिस्ट्रिक्ट का शासक प्रान्त के गर्वनर के मातहत में रहता था, और यह गवर्नर मध्यवर्ती सरकार के आधीन रहता था। मध्यवर्ती शासन में एक मिनिस्टर के आधीन स्थानीय सरकार का सब काम था।

सिलोन में तथा दक्षिण भारत में कुछ शिलालेख मिले हैं, उनसे भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश गिरता है, कुछ दिन हुए सिलोन में महिंदाराजा (इस राजाने सन् १०२६ से १०४२ तक राज्य किया) के समय का एक शिलालेख मिला था, इससे मालूम होता है कि उस वक्त ग्रामों में पंचायनी कोर्ट के द्वारा न्याय होता था। इस कोर्ट में सरपंच (पटेल) और गांव के कुछ अन्य मुखिया रहते थे। इन्हें राज की ओर से यह अधिकार था कि राज्य के क़ानून को अमल में लाकर ये न्याय करें। यह कोर्ट ग्राम में होनेवाले सब अपराधों की जांच करती थी और कानून भंग करनेवाले को दंड या सजा देती थी। इस शिलालेख से जो नयी बात मालूम हुई वह यह है कि अपराधी की खोज लगाना भी पंचायत का काम था, अगर किसी अपराधी का पता नहीं लगता तो इसके जेम्मेदार गांववाले समझे जाते थे, और उनसे हर्जाना वसूल कर उसे दिया जाता था, जिसके घरमें नुकसान होजाता था।

राजधानी और बडे शहरों में भी स्थानीय स्वराज्य के लिये अलग २ संस्थाएं थीं। ऋग्वेद में भी पुरपति अर्थात् नगराधिपति

का उल्लेख आया है, सिटी बोर्ड का अध्यक्ष प्रायः सुपरिन्टेन्डेन्ट रहता था।

मेगास्थनीस के प्रवास वर्णन से मालूम होता है कि राजधानी का शासन म्युनिसिपल बोर्ड के द्वारा चलाया जाता था, जिसमें ३० सदस्य रहते थे। यह बोर्ड पांच मनुष्यों की छः २ कमेटियों में विभक्त था। पहिली कमेटी के सदस्य औद्योगिक कमेटियों की देखरेख और जांच रखते थे, दूसरी कमेटी के सदस्य वैदेशिक कारोबार को देखते थे, तीसरी कमेटी शहर की जन्म मृत्यु की संख्या रखती थी, चौथी कमेटी व्यापार और व्यवसाय का निरीक्षण करती थी, पांचवी कमेटी देशमें बननेवाली चीजों पर देखरेख रखती थी, और जिस समय जिन चीजों की अधिक आवश्यक्ता होती थी, उनकी सूचना कारीगरों को करती थी, छट्टी कमेटी इनकम् टैक्स वसूल करती थी, इस प्रकार ये जुदी २ कमेटियाँ जुदे २ काम करती थीं, और इनके द्वारा नगर की व्यवस्था बडी सुचारुरूप से होती थी।

लेफ्टेनेन्ट कर्नल मार्क विल्कूस का कथन है कि "प्राचीन भारत का प्रत्येक ग्राम एक छोटीसी रिपाब्लिक के समान है। सारा भारतवर्ष इस प्रकार की हजारों रिपब्लिकों का समुच्चय है" सर चार्ल्स मैटकाफ कहते हैं—"ग्राम पंचायतें छोटी रिपाब्लिक के सदृश होती थीं, इन्हें अपने ग्रामके सम्पूर्ण अधिकार रहते थे, इनकी सत्ता बहुत समय तक अटल बनी रही, मद्रास के उत्तर मालूर ग्राम में एक शिलालेख मिला है, उससे मालूम होता है कि दक्षिण हिन्दुस्थान के सर्व ग्राम प्रतिनिधि शासन से शासित थे। दक्षिण हिंदुस्थान के तंजौर नगर में एक शिलालेख मिला है, उसमें ऐसे ग्रामों का जिक्र किया गया है, जिनमें लोकसभाएं

थीं, और चालीस ग्रामों में, पंच शासन करते थे। इस प्रकार सैंकड़ों प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में लोकसत्ता का सूर्य्य बड़ी प्रबलता से प्रकाश मान होरहा था, और छोटे २ गांवों के लोग तो स्वराज्य के अधिकार भोगते थे।

प्राचीन भारत का साहित्य।

अँग्रेजी के सुप्रख्यात् लेखक बेकन का कथन है कि किसी देश की सभ्यता उसके साहित्य में झलकती है। किसी देश के साहित्य को देखकर उस देश के मानसिक और नैतिक विकास का पता चला सकते हैं। अगर किसी देश का साहित्य किसी समय में उच्च, गम्भीर और दिव्य रहा हो तो, समझ लेना चाहिये कि उस समय वह देश अवश्य ही सभ्यता के ऊंचे सोपान पर चढा हुआ होगा। अमेरिका के सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक लेखक एमर्सन महोदय का कथन है कि देश की वास्तविक महत्ता उसके साहित्य से ज्ञात होती है। साहित्य में देश की बुद्धि ही गर्भित नहीं रहती पर उसकी आत्मा भी रहती है। इससे देश की विद्वत्ता का, उसकी बुद्धिमत्ता का, उसकी प्रतिभा का, उसके मानसिक और आत्मिक विकास का, उसकी सहृदयता का, उसकी कल्पनाओं का और उसकी चतुराई का दिग्दर्शन होता है। इसमें राष्ट्र की स्थिति दर्पण की तरह दीखती है। बात यह है कि किसी देश की सभ्यता और उच्चता की कसौटी उसका साहित्य है। अब हमें यह देखना है कि हमारे प्राचीन भारत का साहित्य कैसा था? क्योंकि इससे हम उसकी सभ्यता का बहुत कुछ पता लगा सकेंगे।

अगर हम ही अपने साहित्य की प्रशंसा करें तो यह ठीक न होगा। अपने मियां मिट्ठू बनना अच्छा नहीं। पहले हम अपने

साहित्य के लिये उन पाश्चात्य विद्वानों के विचार उद्धृत करना चाहते हैं, जिन्होंने हमारे प्राचीन भारत के साहित्य का अध्ययन कर अलौकिक आनन्द का लाभ किया है, और उस पर मनोमुग्ध होकर जिन्होंने अपने निःपक्षपात विचार प्रकाशित किये हैं।

प्रोफेसर मेक्समूलर का नाम हमारे बहुतसे पाठक जानते होंगे। आपने संस्कृत साहित्य के अगाध ज्ञानसागर में कुछ गोता लगाया था। आपने वेदों का अंग्रेजी भाषान्तर भी किया है। इसके अलावा आपने संस्कृत साहित्य के अध्ययन में अपने जीवन का बहुमूल्य हिस्सा व्यतीत किया है। आप संस्कृत साहित्य के लिये फर्माते हैं—

"Although there is hardly any department of learning which has not received new light and new life from the ancient literature of India, yet nowhere is the light that comes to us from India so important, novel, and so rich as in the study of the religion and mythology अर्थात् विद्या (learning) का कोई विभाग ऐसा नहीं है, जिसने भारत के प्राचीन साहित्य से नया प्रकाश और नया जीवन न पाया हो। आगे चलकर प्रोफेसर महोदय ने संस्कृत भाषा को सब भाषाओं की माता कही है। प्रोफेसर मेकडॉनल महाशय कहते हैं—

'The intellectual debt of Europe to Sanskrit literature has been undeniably great It may perhaps become greater still in the years that are to come अर्थात् संस्कृत साहित्य का यूरोप पर जो बौद्धिक ऋण है, वह बहुत भारी है। शायद भविष्य में यह ऋण और भी अधिक हो जाय। Count Bjornstjerna कहते हैं—

"The literature of India makes us acquainted with a great nature of past ages, which will always occupy a distinguished place in the history of the civilization of mankind.

अर्थात् भारत का साहित्य हमारा, भूतकाल के एक महान् राष्ट्र से परिचय करवाता है, जिसने कि हरएक शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया और जो मानव जाति की सभ्यता के इतिहास में हमेशा मार्के का आसन ग्रहण करेगा। प्रोफेसर हीरेन (Heeren) फरमाते हैं:—

"The literature of Sanskrit language incontestably belongs to a highly cultivated people, whom we may with great reason consider to have been the most informed of all the east. It is at the same time a scientific and a poetic literature. Hindu literature is one of the richest in prose and poetry अर्थात् संस्कृत साहित्य निश्चित रूपसे ऊंचे दर्जे के सुसभ्य लोगों का साहित्य है। इन लोगों को हम पौर्वात्य देशों के सब लोगों से अधिक ज्ञानवान् कह सकते हैं। यह साहित्य, वैज्ञानिक और कविता युक्त है। हिन्दू साहित्य गद्य और पद्य में ऊंचे से ऊंचे साहित्य में से है। सर डब्ल्यू जोन्स जो यूरोप में संस्कृत साहित्य के बड़े भारी समालोचक समझे जाते हैं, कहते हैं कि संस्कृत साहित्य का सङ्गठन आश्चर्यकारक और अपूर्व है। यह ग्रीकभाषा से अधिक पूर्ण है, लेटिन से अधिक विशाल है। प्रोफेसर बॉप (Bopp) कहते हैं:—

"Sanskrit is more perfect and copious than the Greek and Latin अर्थात् संस्कृत ग्रीक और लेटिन

भाषाओं से अधिक पूर्ण और विशाल है। यहां बॉप महाशय आगे चलकर कहते हैं—

"At one time Sanskrit was the one language spoken all over the world अर्थात् एक समय संस्कृत भाषा सारे संसार में बोली जाती थी। डॉक्टर बेलेन्टिन (Ballantyne) फरमाते हैं:—

"Sanskrit is the original source of all the European languages of the present day अर्थात् हाल की सब युरोपीय भाषाओं का मूल संस्कृत ही है। आगे चलकर आप फिर कहते हैं:—

"Sanskrit is the mother of all Aryan languages अर्थात् संस्कृत सब आर्य भाषाओं की माता है। मिस कार्पेन्टर कहती है:—

"Though the original home of Sanskrit is Aryawart, yet it has now been proved to have been the language of most of the countries of modern Europe in ancient times अर्थात् यद्यपि संस्कृत का मूल स्थान आर्यावर्त है, पर अब यह सिद्ध होगया है कि यह भाषा प्राचीनकाल में आधुनिक यूरोप के बहुत से देशों की भाषा रही है। एक जर्मन समालोचक कहता है:—

"Sanskrit is the mother of Greek, Latin and German languages, and that it has no other relation to them that is the reason why Max Muller calls it the ancient language of the Aryas अर्थात्

अर्थात् संस्कृत साहित्य तादाद में ग्रीस और रोम दोनों देशों के संयुक्त साहित्य से भी ज्यादा है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब फरमाते हैं:—

"The number of Sanskrit works of which M. S. S. are still in existence amounts to ten thousands. This is more, I believe, than the whole classical literature of Greece & Itly put together अर्थात् संस्कृत ग्रन्थों की संख्या, जिनकी प्रतियां अबतक मिलती हैं कोई दस हजार है। अगर ग्रीस और इटाली के साहित्य को मिला लिया जावे तो ये उनसे ज्यादा निकलेंगी। ।

बात यह है कि आज इस भूमण्डल पर जितनी मानवी भाषाओं से संसार परिचित है, उन सब में संस्कृत आदि भाषा है। संसार की सब भाषाओं से यह अत्यन्त प्राचीन है और हमारे पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है कि संसार में प्रचलित प्रायः सब भाषाओं की यह माता है। इतना ही नहीं इसी भाषा के साहित्य ने संसार में सबसे पहले ज्ञान का अलौकिक प्रकाश फैलाया था। इसीने सबसे पहले मानवी सभ्यता के विकास मार्ग में प्रकाश डाला था। इसी ने संसार में मानव जीवन के उच्चतम तत्वों का प्रकाश किया था। इसी से यह भाषा कितने ही विद्वानों के मतानुसार केवल संसार की सब भाषाओं की जननी ही नहीं, पर मानवी सभ्यता की भी आदि जननी है। हमारे आर्य्य ऋषियों के दिव्य, उदात्त और आध्यात्मिक विचारों को इसीके साहित्य ने संसार में फैलाया था और सारे संसार में ज्ञानकी दिव्य ज्योति प्रकाशित की थी। अहा ! इस भाषा के साहित्य की आज संसार की सभ्यता कितनी ऋणी है ?

इस भाषा की रचना अलौकिक है। इसकी उदात्तता, प्रसाद, पद-लालित्य, भाव व्यंजकता इतनी अपूर्व है कि संसार की कोई भाषा इसकी बराबरी नहीं कर सकती। इसमें गम्भीरता के साथ मधुरता का मिलाप हुआ है, अर्थ व्यंजकता के साथ प्रौढता का संयोग हुआ है, मार्दव के साथ चारुता का सम्मेलन हुआ है। दूसरी भाषाओं के साथ उसकी तुलना करने पर पूर्णत्व और अर्थ गौरव की दृष्टि से यह ग्रीक भाषा से विशेष श्रेष्ठ पद पर पहुंची हुई मालूम होती है। अर्थ बाहुल्य की दृष्टि से लैटिन भाषा से यह बहुत आगे बढ़ी हुई है. कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने तक यह बात स्वीकार कर ली है कि संसार की भाषाओं से यह भाषा अधिक सुसंस्कृत है, और यही कारण है कि आज भी उसका इतना गौरव हो रहा है।

इस भूगोल पर जितनी भाषाएं दीख पडती हैं, उन सबका अन्वेषण करने से यह निश्चय हुए सिवाय नहीं रहता कि संस्कृत सब से प्राचीन भाषा है। प्रसिद्ध जर्मन प्रोफेसर वेबर का कथन है कि जिन भाषाओं की आजतक हमें जानकारी हुई है, उनमें संस्कृत प्राचीन भाषा है।

इन सब बातों के अतिरिक्त मानवी सुख के सम्बन्ध में हमारे संस्कृत साहित्य में जो अलौकिक सामग्री मिलती है, वैसी संसार के किसी साहित्य में नहीं मिलती। यह बात एमर्सन जैसे अमेरिका के सुप्रख्यात् आध्यात्मिक लेखक ने भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है। संस्कृत साहित्य में विश्व के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों का, आत्मा के गुण धर्म स्वभाव का, आत्मिक विकास के साधनों का, परम तत्व की प्राप्तिका जैसा दिव्य विवेचन किया गया है, हम बादे के साथ कह सकते हैं कि भूमण्डल के किसी साहित्य

में इन अलौकिक गूढ़ रहस्यों का ऐसा गहन विचार नहीं किया गया है। यहां आत्मा को अलौकिक शांति मिलती है। इसमें आत्मा के विशुद्ध सुख और परमानंद के साधन भरे हुए हैं। ब्रम्ह को दिव्य ज्योति के दर्शन करने के साधन हमें अपने इस अपूर्व साहित्य में मिलते हैं। हजारों वर्षों की तपश्चर्या के बाद हमारे ऋषियों ने जो दिव्य आत्मानुभव किया था, उसका प्रकाश हमें अपने संस्कृत साहित्य में मिलता है। यह तो हुई आध्यात्मिक शास्त्रों की बात। और भी कितनी ही बातों में संस्कृत साहित्य बहुत आगे बढ़ा हुआ है। जिन्हें नाट्यशास्त्र, पुराण, इतिहास, कल्पित कथाएं तथा आख्यायिकाओं से प्रेम है, उनके लिये भी संस्कृत साहित्य में अपार सामग्री मिलेगी। इतना ही नहीं नृवंश-विज्ञान, प्राणिविद्या, उद्भिद्विद्या, भूगर्भशास्त्र, रसायनशास्त्र, वैद्यकविज्ञान, जन्तुविज्ञान, आदि कई प्रकार के शास्त्रों का समावेश संस्कृत साहित्य में है। इसमें ऐसे ऐसे मधुर और हृदय को हिला देनेवाले काव्य हैं कि जिनकी प्रशंसा बडे बडे दिग्गज पाश्चात्य विद्वानों ने की है। इसमें अपूर्व नाटक ग्रंथ है नीति तथा राजनीति शास्त्र हैं। यह साहित्य अनेक प्रकार की विद्याओं से भरा हुआ है।

प्राचीन भारत में विज्ञान।

हम गत अध्यायों में भारतीय दर्शन शास्त्रों के विषय में—उसके अगाध आध्यात्मिक ज्ञानके विषय में—उसकी आदर्श शिक्षा पद्धति और विद्याभ्यासंग के विषय में—विवेचन कर चुके हैं। अब हम चाहते हैं कि भारत ने विज्ञान की भिन्न २ शाखाओं में जैसी प्रगति की, उसके लिये संक्षिप्त में कुछ लिखें। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि प्राचीन भारत आध्यात्मिक उन्नति में सारे संसार का शिरोमणि था। उसने जिस गहनता के साथ आत्मा के गूढ तत्वको समझा था, वैसा संसार के किसी देशने नहीं समझा था। पर सांसारिक उन्नति की ओर भारत का सदा से कम ध्यान रहा है। उसने आध्यात्मिक उन्नति में अपनी सांसारिक उन्नति भुला दी। उसने संसार को असार और क्षणभंगुर समझा, इससे वह आधिभौतिक उन्नति में आगे न बढ सका। इसका यह कथन कुछ अंशों में सत्य हो सकता है, पर सर्वांश में सत्य नहीं हो सकता। इसमें संदेह नहीं कि भारत का आदर्श सदा से आध्यात्मिक और आत्मिक आदर्श रहा है। उसका सारा लक्ष्य उस परम तत्व को जानना रहा है। वह यह समझता आया है कि जिसने उस परम तत्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया। इतना सब होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन भारत ने अन्य क्षेत्रों में कुछ भी आगे पैर नहीं बढाये। प्राचीन काल में आध्यात्मिक उन्नति के साथ साथ लौकिक उन्नति भी

ऐसी की, कि जिसे सुनकर परम आश्चर्य होता है। हां एक बात पर ध्यान रखना आवश्यक है, वह यह कि लौकिक उन्नति में भी उसने अपने आत्मिक आदर्श को तिलाञ्जली न दी। अगर यह कहा जावे तो कुछ अनुचित न होगा कि आत्मिक बल ने उसकी लौकिक उन्नति में सहायता पहुंचाई। आत्मिक शक्ति के द्वारा उसने तीन चार हजार वर्षों के पहले ऐसे ऐसे अलौकिक आविष्कार किये थे, जिन पर आज सर जगदीशचन्द्र बोस और सर प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे संसार प्रसिद्ध वैज्ञानिक मुग्ध हैं।

हमारे प्राचीन भारतवासियों के लिये, कुछ मनचले लोग यह खयाल जारी करते हैं कि उनका वैज्ञानिक मस्तिष्क नहीं था। वे अन्ध परम्परा और " बाबा वाक्यं प्रमाणं " के दास रहते थे। इससे शायद वे इस क्षेत्र में आगे न बढे होंगे क्योंकि वैज्ञानिक क्षेत्र में सत्य के अनुशीलन की आवश्यकता है। विज्ञानी कहते हैं:- " सत्य तत्व चाहे वह प्रचलित विश्वास तथा सिद्धान्त के नितान्त विरुद्ध क्यों न हो, वैज्ञानिक परीक्षाओं की कसौटी पर निकलने के बाद जैसे के तैसे रहें अर्थात् उनमें कुछ फेर बदल न हो तब ही वे ग्रहण करने योग्य हैं और मिथ्या विश्वासों तथा सिद्धांतों का त्याग ही श्रेयस्कर है। नैसर्गिक ज्ञान के संसार में किसी बात को सिद्ध करने के लिये यह प्रमाण नहीं माना जाता कि अमुक महात्मा ने तथा बडे विज्ञानी ने यह बात कही है अतएव प्रमाणभूत है। बिना किसी प्रकार की जांच किये इसे मान लेना चाहिये। इसमें तो परीक्षाओं पर परीक्षा करने पर जब उसकी सत्यता सिद्ध होती है तब ही वह मानी जाती है। ये बातें अकसर हमारे कुछ पाश्चात्य बंधु कहा करते हैं। पर ये बेचारे क्या जानें कि सत्य तो भारत का सदा से आदर्श रहा है। सत्य

उसकी सभ्यता का खास तत्व है। उसका मन सत्यान्वेषण में सदा वैज्ञानिक सा रहा है। वैज्ञानिक क्षेत्र में भी उसने सत्य का पीछा किया है। हिन्दुओंके सुप्रसिद्ध रसायनशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ "रसेन्द्र चिन्तामणि" के कर्ता ने लिखा है:—

"जो बातें मैंने विद्वानों के मुख से सुनी हैं और शास्त्रों में भी पढ़ी हैं, परन्तु जिनकी सत्यता की खोज मैंने स्वयं प्रयोग करके नहीं की है, उनका मैंने परित्याग किया है। हां, जो क्रियाएं मैंने अपने विद्वान् शिक्षकों की सम्मति के अनुसार स्वयं की हैं, केवल उन्हींको मैं इस ग्रंथ में लिख रहा हूं।"

"उन्हींको सच्चा शिक्षक समझना चाहिये, जो सिखाते समय अपनी बातोंको प्रयोगों द्वारा सिद्ध करदें, और सच्चे शिष्य भी वही हैं जो सीखी हुई बातों को स्वयं कर सकें। इनके सिवा और गुरु शिष्य तो रंगमंच पर अभिनय करनेवाले हैं" "रस प्रकाश सुधाकर" के रचयिता यशोधर लिखते हैं:—

"मेरे ग्रन्थ में जितने रासायनिक प्रयोग लिखे जाते हैं, उन सबको मैंने स्वयं किया है दूसरों से सुनी हुई बातें मैं नहीं लिख रहा हूं। जो कुछ लिखा गया है, उसका अनुभव परीक्षण द्वारा मैंने स्वयं किया है" देखिये आधुनिक समय के सुप्रख्यात् विज्ञानी फेरेडे का मत उपरोक्त ग्रन्थकारों से कितना मिलता जुलता है। फेरेडे महोदय कहते हैं:—

"विज्ञानी को हरएक की बात सुनना चाहिये पर बिना जांच पड़ताल किये कोई बात न मानना चाहिये। उसे किसी खास मत का अनुयायी न होना चाहिये। सिद्धान्तों के निश्चित करने में उसे गुरु की आवश्यकता न समझकर अपने स्वतः की

जांच और निरीक्षण से अपने सिद्धान्त निश्चित करने चाहिये। सत्य उसके जीवन का खास तत्व होना चाहिये। यदि इन उद्देश्यों को सामने रख वह काम करेगा तो प्रकृति माता के मन्दिर में प्रविष्ट होने की वह आशा कर सकता है।" मतलब यह है कि वैज्ञानिक खोज के लिये जिस प्रकार की मानसिक वृत्तियों और सत्यानुराग की आवश्यकता है, उसके विषय में पौर्वात्य और पाश्चात्य विज्ञानियों का मत कितना मिलता जुलता है, यह ऊपर के अवतरणों से साफ मालूम होगा।

इसके अतिरिक्त ध्यान की एकाग्रता और मनोयोग की जिस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में आवश्यकता है, उसी प्रकार वैज्ञानिक क्षेत्र में भी आवश्यकता है। इस बात को डॉक्टर सर जगदीशचन्द्र बोस ने अपने हिन्दु विश्व विद्यालयवाले व्याख्यान में बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। डॉक्टर साहब ने कहा था:—

"भारतवर्ष योग-विद्या-अध्यात्मशक्ति का घर है। उसके लिए ध्यान, धारणा और समाधि बांये हाथ का खेल है। मानसिक शक्तियों में बडा बल है। सम्राट् अशोक को देखिए, कलिङ्ग देश पर उसने चढाई की; हजारों वीरों का संहार होने लगा, समरभूमि लाशों से ढक गई; यह बीभत्स दृश्य देखकर अशोक का दिल दहल गया। 'युद्धदेहि' का निर्घोष करनेवाला अशोक अहिंसा-प्रेमी बन गया। कहां तो विजय प्राप्ति की वह अनिवार्य्य लालसा, कहां यह विरक्ति। यह किस शक्ति का प्रभाव था! यह उसी अध्यात्मशक्ति का प्रभाव था, जिसे भूल जाने से हम वैज्ञानिक जगत में कृतकार्य नहीं होरहे हैं। भारतभूमि में ऐसे अनेक महात्मा हो गये हैं, जिन्होंने ज्ञान की प्राप्ति के लिये अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया। पर पश्चिमी ज्ञान की चमक से हमें

उसकी सभ्यता का खास तत्व है। उसका मन सत्यान्वेषण में सदा वैज्ञानिक सा रहा है। वैज्ञानिक क्षेत्र में भी उसने सत्य का पीछा किया है। हिन्दुओंके सुप्रसिद्ध रसायनशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ "रसेन्द्र चिन्तामणि" के कर्ता ने लिखा है:—

"जो बातें मैंने विद्वानों के मुख से सुनी हैं और शास्त्रों में भी पढ़ी हैं, परन्तु जिनकी सत्यता की खोज मैंने स्वयं प्रयोग करके नहीं की है, उनका मैंने परित्याग किया है। हां, जो क्रियाएं मैंने अपने विद्वान् शिक्षकों की सम्मति के अनुसार स्वयं की हैं, केवल उन्हींको मैं इस ग्रंथ में लिख रहा हूं।"

"उन्हींको सच्चा शिक्षक समझना चाहिये, जो सिखाते समय अपनी बातोंको प्रयोगों द्वारा सिद्ध करदें, और सच्चे शिष्य भी वही हैं जो सीखी हुई बातों को स्वयं कर सकें। इनके सिवा और गुरु शिष्य तो रंगमंच पर अभिनय करनेवाले हैं" "रस प्रकाश सुधाकर" के रचयिता यशोधर लिखते हैं:—

"मेरे ग्रन्थ में जितने रासायनिक प्रयोग लिखे जाते हैं, उन सबको मैंने स्वयं किया है दूसरों से सुनी हुई बातें मैं नहीं लिख रहा हूं। जो कुछ लिखा गया है, उसका अनुभव परीक्षण द्वारा मैंने स्वयं किया है" देखिये आधुनिक समय के सुप्रख्यात् विज्ञानी फेरेडे का मत उपरोक्त ग्रन्थकारों से कितना मिलता जुलता है। फेरेडे महोदय कहते हैं:—

"विज्ञानी को हरएक की बात सुनना चाहिये पर बिना जांच पड़ताल किये कोई बात न मानना चाहिये। उसे किसी खास मत का अनुयायी न होना चाहिये। सिद्धान्तों के निश्चित करने में उसे गुरु की आवश्यकता न समझकर अपने स्वतः की

जांच और निरीक्षण से अपने सिद्धान्त निश्चित करने चाहियें। सत्य उसके जीवन का खास तत्व होना चाहिये। यदि इन उद्देश्यों को सामने रख वह काम करेगा तो प्रकृति माता के मन्दिर में प्रविष्ट होने की वह आशा कर सकता है।" मतलब यह है कि वैज्ञानिक खोज के लिये जिस प्रकार की मानसिक वृत्तियों और सत्यानुराग की आवश्यकता है, उसके विषय में पौर्वात्य और पाश्चात्य विज्ञानियों का मत कितना मिलता जुलता है, यह ऊपर के अवतरणों से साफ मालूम होगा।

इसके अतिरिक्त ध्यान की एकाग्रता और मनोयोग की जिस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में आवश्यकता है, उसी प्रकार वैज्ञानिक क्षेत्र में भी आवश्यकता है। इस बात को डॉक्टर सर जगदीशचन्द्र बोस ने अपने हिन्दु विश्व विद्यालयवाले व्याख्यान में बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। डॉक्टर साहब ने कहा था:—

"भारतवर्ष योग-विद्या-अध्यात्मशक्ति का घर है। उसके लिए ध्यान, धारणा और समाधि बांये हाथ का खेल है। मानसिक शक्तियों में बडा बल है। सम्राट् अशोक को देखिए, कलिङ्ग देश पर उसने चढाई की; हजारों वीरों का संहार होने लगा, समरभूमि लाशों से ढक गई; यह बीभत्स दृश्य देखकर अशोक का दिल दहल गया। 'युद्धदेहि' का निर्घोष करनेवाला अशोक अहिंसा-प्रेमी बन गया। कहां तो विजय प्राप्ति की वह अनिवार्य्य लालसा, कहां यह विरक्ति। यह किस शक्ति का प्रभाव था! यह उसी अध्यात्मशक्ति का प्रभाव था, जिसे भूल जाने से हम वैज्ञानिक जगत में कृतकार्य नहीं होरहे हैं। भारतभूमि में ऐसे अनेक महात्मा हो गये हैं, जिन्होंने ज्ञान की प्राप्ति के लिये अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया। पर पश्चिमी ज्ञान की चमक से हमें

चकाचौंध आगई है। हम वास्तविक सत्य को भूल गये हैं। एक के स्थान पर हम अनेक तत्वों को मानने लगे हैं। विज्ञान में सर्वव्यापक सिद्धान्तों का निश्चय करना ही सबसे अधिक महत्व की बात है। सिद्धान्त ऐसे होना चाहिए जो अनेक प्रकार की भिन्नताओं के भीतर समता—एकता—को ढूंढ निकालें। अर्थात् भिन्न २ स्वभाव और रूपों की वस्तुओं में किसी ऐसे तत्व का पता लगा लें, जिसकी सत्ता सब में एकसी हो। यह काम तब-तक नहीं हो सकता, जबतक मन शुद्ध न हो, विकार रहित न हो, एकाग्र और शान्त न हो। सच पूछिए तो भारतवासियों के लिए यह कोई नई बात नहीं। ये इस शक्ति को थोडे ही परि-श्रम से प्राप्त कर सकते हैं।"

"हमें अपने मनको एकाग्र रखना चाहिये जिस काम को हाथ में लिया हो उसमें सम्पूर्ण भाव से मन लगा देना चाहिये। बात पहले मनमें आती है, तब वह हाथ से की जाती है। अतएव कोई काम करने के लिए मन की शान्ति और स्थिरता की बडी जरूरत है। जिसका मन स्वस्थ और स्थिर नहीं रहता, इधर-उधर भटकता फिरता है, जो मन सत्य की खोज के बदले किसी निजके स्वार्थ-साधन में लगा रहता है, वह बडे बडे कामों में कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।"

"मनकी स्थिरता का एक उदाहरण लीजिए, मैंने मनोयोग का थोडा बहुत अभ्यास किया है। मैंने यह जानना चाहा था कि पदार्थ (Matter) पर शक्ति (Force) का क्या प्रभाव पडता है। मैंने प्रयोग शुरू किये। मुझे ऐसे नियम ज्ञात हुए जो जड और चेतन दोनों पर एकसे घटित होते हैं, जो दोनों में तद्वत् पाये जाते हैं। फिर मैंने अव्यक्त प्रकाश (Invisible Light)

की परीक्षा आरम्भ की। तब मुझे मालूम हुआ कि देदीप्यमान प्रकाश-समूह के पास रहने पर भी हम लोग अन्धे ही बने हुए हैं। वह तेज—वह प्रकाश हमारे चारों ओर फैला हुआ है। खेद है कि मनुष्य में अभीतक उन शक्तियों का पूरा विकास नहीं हुआ जिनकी सहायता से वह उस अज्ञात और अव्यक्त का अनुभव कर सके मेरे कुछ प्रयोगों ने जीवन और मरण के जटिल प्रश्न को बहुत कुछ हल होने योग्य बना दिया।"

मतलब यह कि विज्ञान के लिये जिस प्रकारकी मानसिक वृत्तियों की तथा सत्यानुराग की आवश्यकता है, वह सब बातें हमारे भारतवासियों में भी थीं और हैं। यह कहना फजूल है कि भारतवासियों का मास्तिष्क वैज्ञानिक मस्तिष्क नहीं है। इसके अतिरिक्त भारतवासियों ने विज्ञान के भिन्न २ क्षेत्रों में बडाही अपूर्व प्रकाश डाला था। यह भी उस समय जब कि हमारे पाश्चात्य बंधुगण निरी जंगली अवस्था में थे और बंदरों की तरह इधर उधर छलांगें मारते फिरते थे। अहा ! हमारे दार्शनिक सिद्धान्तों को भी विज्ञान ने कितनी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है।

सर्व व्यापी चैतन्य।

हम भारतवासियों का विश्वास है कि अखिल विश्व में सर्व व्यापिनी चैतन्यशक्ति वर्तमान है। विश्व में कोई स्थान ऐसा नहीं जो इस शक्ति से विहीन हो। हमारा बच्चा बच्चा इस बात को जानता है और यह विश्वास हमारे नस नस में घुसा हुआ है। हर्ष की बात है कि अब यह बात आधुनिक विज्ञान से भी सम्मत होती जारही है। संसार प्रख्यात् विज्ञानी सर जगदीशचंद्र बोस ने अपने अद्भुत प्रयोगों के द्वारा इस बात की सत्यता सिद्ध करदी है।

उन्होंने ऐसे २ आश्चर्यजनक यन्त्र तैयार किये हैं जिनसे वृक्षों और जड माने जानेवाले अन्य पदार्थों में इस चैतन्य शक्ति का अनुभव होता है। आपने अपने आविष्कारों के द्वारा जो तत्व निकाला है, वह आपके मतानुसार तीन चार हजार वर्ष के पहले ही हम भारतवासियों को ज्ञात था। आपने स्वयं कहा है कि "मेरे आर्य्य पूर्वजों ने गंगातट पर ध्यानस्थ बैठकर जिन अलौकिक तत्वों का आविष्कार किया है, वे अब मेरे प्रयोगों द्वारा सत्य सिद्ध होते जारहे हैं।" सर्व व्यापिनी चैतन्य शक्ति के विषय में हमारे ऋषियों ने अपनी आध्यात्मिकशक्तिके द्वारा जो सिद्धांत निर्धारित किये थे, आज वे बोस के प्रयोगों के कारण वैज्ञानिक संसार में सत्य सिद्ध हो रहे हैं। इसके सिवाय हम लोगों ने इस सृष्टि के सङ्गठन को केवल एक तत्व से बना हुआ माना है। हर्ष की बात है कि आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से यह बात भी सिद्ध होगई है। हमारे वैज्ञानिक पाठक जानते होंगे कि कुछ समय के पहले वैज्ञानिक महानुभाव इस सृष्टि में ७२ तत्व मानते थे। फिर ८० मूलतत्व मानने लगे। पर रेडियम के आविष्कार ने इन सब बातों में परिवर्तन कर दिया। हुआ क्या, रेडियम के आविष्कार के बाद विज्ञानियों को यह बात मालूम हुई कि परमाणु ही सब से सूक्ष्म पदार्थ नहीं है। परमाणु भी इलेक्ट्रॉन नामक अतिपरमाणुओं के संयोग से बने हैं अतएव परमाणु विभाज्य है और एक परमाणु का अन्य दूसरे परमाणु या तत्व में परिवर्तित हो सकता है। सब तत्वों में यह इलेक्ट्रॉन सर्व व्यापी है। अस्सी तत्व जुदे २ नहीं हैं। ये सब इन्हीं अति परिमाणु-इलेक्ट्रॉन के सङ्गठन हैं। सब में वही तत्व है। जिसरूप में इन परमाणुओं का सङ्गठन होगा, उसी रूप में वह परमाणु या तत्व दिखाई देगा। इस अति परमाणु इलेक्ट्रॉन का आविष्कार होजाने पर विज्ञानी लोग यह बात मानने

लगे हैं। यह सृष्टि अस्सी तत्वों का नहीं, पर केवल मात्र एक तत्व का सङ्गठन है। यह तो हुई विश्वरचना की बात, पर विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी हमारे आर्यों ने कितना दिव्य प्रकाश डाला था, उसका कुछ विस्तार के साथ वर्णन करेंगे। हम क्रमशः विज्ञान के प्रायः सब क्षेत्रों को लेकर यह दिखायेंगे कि कौन कौन से वैज्ञानिक क्षेत्रों में हमारे आर्यों ने कैसी कैसी पारदर्शिता दिखलाई.

वैद्यक विज्ञान।

हमारा वैद्यक विज्ञान अत्यन्त प्राचीन है। हमारे प्राचीन ऋषिगणों ने इसमें अत्यन्त पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी। इन्होंने यह विद्या किसी से नहीं सीखी। निरन्तर खोज और प्रयोगों के द्वारा इन्होंने इसके सिद्धान्त स्थिर किये थे। इसमें हमारे ऋषियों की आत्मिक शक्ति ने भी बड़ी सहायता पहुंचाई थी। अर्थात् हमारा वैद्यक विज्ञान केवल बाह्य खोजों ही का परिणाम नहीं है, वरन् बाहरी और आन्तरिक दोनों प्रकार की अन्वेषणाओं का परिणाम है। वैद्यक विज्ञान का सब से प्रथम विकास हमारे भारतवर्ष में हुआ। अब भी पाश्चिमात्य विद्वान् इस बात को स्वीकार कर रहे हैं। लेटिन भाषा में सुश्रुत, चरक आदि हमारे कई आर्य्य वैद्यक ग्रन्थों का अनुवाद कई हजार वर्ष पहले हो चुका था। आर्य्य वैद्यक सीखने की लालसा पहले पहल अरब लोगों ने प्रदर्शित की। इसके बाद उन्होंने हमारे सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ चरक और सुश्रुत का अरबी भाषा में भाषान्तर किया। फिर तो इन लोगों की रुचि दिन बदिन आर्य्य वैद्यक की ओर बढ़ने लगी। पीछे अरब लोगों से यही विद्या पाश्चात्य लोगों ने ग्रहण की। पाश्चात्य विद्वानों ने इबन्सिराबी आदि अरबी ग्रन्थों का लैटिन

भाषान्तर कर उनके नाम क्रम से आन्हिसेना, हेजेस् और सिरापिअन रखा। इस तरह हम आर्यों से अरब लोगों ने और अरब लोगों से पाश्चिमात्य लोगों ने सीखा। वैद्यक का मूल गुरू भारतवर्ष ही है। पौर्वात्य लोगों का ज्ञान निर्झर ठेठ सतरहवीं सदी तक पाश्चिमात्य लोगों को प्राप्त होता रहा। चरक और सुश्रुत के अरबी भाषान्तर ईसवी सन के आठ सौ वर्ष पूर्व हुए थे। संस्कृत के अन्य कुछ वैद्यक ग्रन्थों का भाषान्तर बगदाद के खलीफा ने ईसवी सन ७५० में किया था। इसके अतिरिक्त आज दूर दूर देशों में जिस प्रकार पाश्चात्य वैद्यों का आदर हो रहा है, वैसा पहले हमारे आर्य्य वैद्यों का होता था। विदेशीय राजा और सम्राट् विद्वान् आर्य्य वैद्यों को अपने पास रखते थे। ईसवी सन की आठवीं शताब्दि में बगदाद के सुप्रसिद्ध कालिफ हारून अलरसीद ने अपने पास दो नामांकित वैद्यों को रखा था। ये वहां मणका और साले नाम से पुकारे जाते थे। सुप्रसिद्ध सम्राट् सिकन्दर ने अपने पास दो ब्राह्मण वैद्य रखे थे वे भी इस हेतु से कि इनके द्वारा वे असाध्य रोग, आराम करवाये जावें, जो ग्रीक वैद्यों के हाथ से अच्छे न हुए हों। ग्रीक लोग सांप के विष को नहीं उतार सकते थे और हमारे आर्य्य वैद्यों को यह विद्या साध्य थी।*

---

* The Grecian Phycisians found no remedy against the bite of snakes, but the Indains cured those who happened to incur that misfortune (Nearchus).

The Greeks " when indisposed, applied to their sophists (Brahmans), who by wonderful and even more than human means, cured whatever would admit of cure" (Arrian).

इसके अतिरिक्त किसी आधि व्याधि के कारण अस्वस्थता मालूम होती थी, तब वे उसके शमन के लिये ब्राम्हण वैद्यों के पास जाते थे और ब्राम्हण वैद्य अपने आश्चर्यकारक और अलौकिक साधनों के द्वारा उन्हें आराम करते थे। मतलब यह कि संसार के वैद्यक का मूल उत्पत्तिस्थान तथा आदि निर्झर केवल भारतवर्ष ही था। संसार भर को हमारे यहां से वैद्यक ज्ञान मिला। आजकल पाश्चात्य लोग हिपोक्रेटिज को पाश्चात्य वैद्यशास्त्र का आदि जनक समझते हैं, पर उसने भी हमारे आर्य्य ग्रन्थों से ही विशेष ज्ञान लाभ किया, यह बात खास उसीके ग्रन्थों से सिद्ध होती है।

सुप्रसिद्ध ग्रीक वैद्य Theophrastus ने जो इसवी सन् पूर्व ३५८ वर्ष हुआ, कई आयुर्वेदीय औषधियों का विवेचन अपने ग्रंथों में किया है। ग्रीक मटेरिया मेडिका का सुविख्यात् लेखक डिऑसकार्डिज (Dioscorides) ने भी अपने ग्रंथ में आयुर्वेद की कई औषधियों का आयुर्वेद के ग्रन्थानुसार गुण धर्म विवेचन किया है। प्राचीन काल में ग्रीक में कई आर्य वैद्यक की प्रयोगशालाएं होने का पता चलता है, जहां वैद्यक की औषधियां और रस तैयार किये जाते थे। ग्रीक लोगों ने हमारी कई औषधियां ग्रहण कीं और उनके भारतीय नाम थोडे से फेर बदल के साथ ज्यों के त्यों कायम रक्खे। सेरापियॉन (Serrapion) जो आठवीं सदी में हुआ, वह भी अपने ग्रन्थ में चरक और सुश्रुत की प्रशंसा करता है । कई सेरेसियन वैद्यों (Saracen physicians) को इस बातपर बडा आश्चर्य हुआ था कि हिन्दू वैद्य किस निर्भीकता के साथ धातुओं की बनी हुई औषधियों का उपयोग करते हैं? तर्लाफशरीफ नामक एक पार्सी हकीम ने हिन्दू वैद्यक की बडी प्रशंसा की है। वह लिखता है:—

"शुद्ध किया हुआ संखिया हिन्दू वैद्य वैद्यक रोगी को दे देते हैं और उससे फायदा भी होता है। हम तो केवल बाह्यी उपयोग के लिये यह काम में लाते हैं। पारा भी हिन्दू वैद्य आम तौर से काम में लाते हैं..........यह भयंकर दवा है। लोहा भी हिन्दू वैद्यों द्वारा काम में लाया जाता है, पर मेरी राय में इसे बन सके उतना कम काम में लाना चाहिये। चीन के विद्वान् प्रवासीगण भी हिन्दू वैद्यशास्त्र का अध्ययन करते थे। सुप्रसिद्ध चीनी प्रवासी Itsingh ने हिन्दुस्थान में रहकर वैद्यक विज्ञान का सफलतापूर्वक अध्ययन किया था। माध्यमिक काल के कई ग्रीक वैद्यों ने भी हिन्दू वैद्यक ग्रंथों का अध्ययन किया था। चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के कई ग्रीक डॉक्टरों ने वैद्यक के मूल संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया था।" मीर-मुहम्मद मूम्मिन ने अपने मटेरिया मेडिका में हिन्दू वैद्यक ग्रंथों के प्रति अपनी कृतज्ञता भी प्रकाशित की है। इसके सिवा यह भी ऐतिहासिक खोज लगी है कि बगदाद के कई दवाखानों पर एक समय हिन्दू वैद्य सुपरिन्टेन्डेंट थे।

आर्य्य वैद्यक की प्राचीनता।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होगया कि हमारा आर्य्य वैद्यक संसार के सब वैद्यक विज्ञान से प्राचीन है, और भारत इस विद्या का आदि गुरू रहा है। अब हम अपने ग्रंथों से इसकी प्राचीनता के विषय में कुछ अन्वेषण करना चाहते हैं। हिन्दू लोग वैद्य शास्त्र या आयुर्वेद को उपवेद मानते हैं। इससे मालूम होता है कि यह अति प्राचीन होगा। अथर्वण संहिता में भिन्न २ रोगों के नाम दिये गये हैं और उनके शमन के लिये भिन्न २ वनस्पतियों की योजना की गई है। यह कहने की आवश्यकता

नहीं कि उपरोक्त संहिता अत्यन्त प्राचीन है। ऋक्संहिता के अपूर्ण सूर्य सूक्त में सर्प, बिच्छू आदि विषैले जन्तुओं के विष का कथन है और इसके शमन के उपाय भी बतलाये हैं। शतपथ ब्राम्हण में सर्प विद्या का कथन किया गया है. अश्वलायन श्रौतसूत्र में "विष विद्या" पर कुछ विवेचन हैं। पतंजलि के महाभाष्य में भी प्राणिशास्त्र का थोडा बहुत वर्णन मिलता है।

आर्य्य वैद्यक का कब से विकास हुआ इसका समय अभी निश्चित रूप से मालूम नहीं हुआ है। पर बाह्य प्रमाण के सहारे से इस पर कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है। पाणिनी के व्याकरण में भिन्न २ रोगों के नाम दिये गये हैं। इनसे यह तो स्पष्ट होगया कि पाणिनी के पूर्व अर्थात् ईसवी सन् के ७०० वर्ष पूर्व वैद्यक विज्ञान में हिन्दुओं की प्रगति थी। इसी प्रकार सब कोषों में अत्यन्त प्राचीन अमरकोष से भी यह बात मालूम होती है। अमरकोष के कर्ता अमरसिंह का काल अभी निश्चित नहीं हुआ है, पर कहा जाता है कि यह भोजराजा के नवरत्नों में से था। इस हिसाब से इसका उदय काल ईसवी सन् पूर्व ५६ वर्ष के लगभग निकलता है।

आत्रेय, अग्निवेश, चरक, धन्वंतरि, सुश्रुत आदि ऋषि आयुर्वेद के अत्यंत प्राचीन ग्रन्थकार होगये हैं। इनमें चरक की उत्पत्ति सूत्रकाल में बतलायी जाती है।

हमारे वैद्यक विज्ञान का मूल इतने दूर तक गया है कि उसका दिग्दर्श ऋग्वेद जैसे संसार के सब से प्राचीन ग्रन्थ में भी होता है। क्योंकि राजयक्ष्मा, हृद्रोग, यकृत, प्लीहा आदि रोगों के नाम ऋग्वेद में मिलते हैं।

आयुर्वेद की उत्पत्ति के लिये पौराणिक कथानक यह है कि पहले पहल इसका ज्ञान इन्द्र को था। उसने भारद्वाज को, अत्यन्त बुद्धिमान् समझकर, इसका ज्ञान संक्षिप्त में दिया। भरद्वाज ने इस स्कंध त्रयात्मक आयुर्वेद का यथार्थ ज्ञान, अपने बुद्धि प्रभाव से शीघ्र सीख लिया। इससे वह रोग रहित और दीर्घायु होगया। उसने इस वेद का ज्ञान अन्य ऋषियों को करवाया। अत्रि ऋषि के पुत्र पुनर्वसु ने अपने छः शिष्यों को इसका पठन करवाया। इन छः शिष्यों के नाम ये हैं—अग्निवेश, भेड, जातुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपत। इन सब में अग्निवेश सब से अधिक बुद्धिमान् था। उसीने सब से प्रथम वैद्यक शास्त्र पर ग्रन्थ लिखा। अग्निवेश के बाद भेड आदि शिष्यों ने भी अपने २ ग्रन्थ लिखे। अत्रेय ऋषि ने जब इन सबको पसंद कर लिया, तब वे सब संगृहीत करदिये गये और उनका नाम "षड्भिषक् संहिता" प्रसिद्ध होगया। चरक के चिकित्सा स्थान के १८ वें अध्याय में अत्रेय ऋषि को "आयुर्वेद विदांश्रेष्ठं भिषग् विद्या प्रवर्तकम्" कहा है।

अथर्ववेद में भी औषधियों के गुणों को प्रदर्शित करनेवाले कुछ सूक्त मिलते हैं। चरक का कथन है कि वैद्यकशास्त्र इसी वेद का उपांग है। ऋग्वेद में भी कुछ रोगों के नाम और शारीरिक अवयवों का वर्णन मिलता है। इससे यह अनुमान होता है कि अत्रेय और अग्निवेश के पूर्व भी वैद्यकशास्त्र पर कुछ ग्रन्थ बने होंगे पर पहले सूत्ररूप से ग्रन्थ बनते थे, इसलिये वैद्यकशास्त्र पर अग्निवेश के पहले अगर कोई ग्रन्थ होंगे तो वे अग्निवेश के ग्रन्थों के आगे अपना प्रकाश न बता सकने के कारण नष्ट होगये होंगे।

अग्निवेशादि ने, उपरोक्त जो छः संहिताएं प्रसिद्ध कीं, वे काय चिकित्सा के सम्बन्ध में हैं। शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध में

भी औपधेनव, औरभ्र, पौष्कलावत और सौश्रुत आदि चार संहिताएं प्रसिद्ध हैं। इनमें सौश्रुत सबसे अच्छी समझी जाती है। सुश्रुत को शल्यशास्त्र (Surgery) का ज्ञान दिवोदास नामक काशी के एक राजा से प्राप्त हुआ। यह राजा धन्वतरि का अवतार समझा जाता था। शल्य चिकित्सा का एक हिस्सा शालाक्य के नाम से मशहूर है। इसमें मस्तिष्क और नेत्रसंबंधी रोगों की चिकित्सा कही गई है। इसका भी सुश्रुत में वर्णन है। इस अध्याय का प्रवर्तक विदेह देश का निमि नाम का राजा समझा जाता था।

चरकने वैद्यशास्त्र पर जो ग्रन्थ लिखा वह स्वतन्त्र नहीं है। अग्निवेशतन्त्र का परिवर्तित रूप है। यही परिवर्तित रूप चरक संहिता के नाम से प्रख्यात् होगया। चरक का समय डॉक्टर गर्दे के मतानुसार कम से कम पाणिनि के पूर्व २०० वर्ष होने चाहिये। चरक के बहुत अर्से बाद सुश्रुत हुआ। उसके शारीरस्थान नामक ग्रन्थ में चरक से ज्यादा ज्ञान भरा हुआ है। इसकी विषय पद्धति भी चरक से विशेष सुव्यवस्थित है। सुप्रसिद्ध वार्तिककार कात्यायन ने इसी सुश्रुत का उल्लेख किया है। इससे डॉक्टर गर्दे ने यह अनुमान निकाला है कि सुश्रुत का समय ईसवी सन् पूर्व ७०० वर्ष होना चाहिये।

हमारे यहां का रसवैद्यक भी बहुत पुराना है। जिन तत्वों पर आजकल की पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली होमियोपैथी निर्भर करती है, उन्हीं तत्वों पर हमारा रसवैद्य भी निर्भर करता है। होमियोपैथी का आदि जनक हानूमन नाम का जर्मन शोधक समझा जाता है, पर जिन तत्वों पर यह निर्भर करती है, वे हमारे पूर्वजों को ढाई-हजार वर्ष के पहले भी मालूम थे और इन्हीं तत्वों को उन्होंने अपने रसवैद्यक में कायम किया था।

चरक और सुश्रुत के बाद महत्वपूर्ण वैद्य वाग्भट हुआ। यह पंजाब का निवासी और सिंहगुप्त का पुत्र था। इसका चाचा प्रसिद्ध वैद्य था। यह कहने में कुछ अत्युक्ति न होगी कि वैद्यक वाग्भट का पुश्तैनी धंधा था। वाग्भट के अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय नाम के दो नामाङ्कित ग्रन्थ हैं। ये दोनों चरक और सुश्रुत के आधार से रचे गये हैं। इन ग्रन्थों के रचने का हेतु भिन्न भिन्न वैद्यक ग्रन्थों में बिखरे हुए ज्ञान को इकट्ठा करना था।

अष्टांगहृदय ग्रन्थ छः हिस्सों में विभक्त है। यथा सूत्र, शारीर, निदान, चिकित्सा, कल्प और उत्तर स्थान। इसमें चिकित्साएं आठ प्रकार की दी हैं वे ये हैं कायचिकित्सा, बालरोग-चिकित्सा, भूत-चिकित्सा, शालाक्य, शल्ययन्त्र, विष-चिकित्सा, रसायनयन्त्र और वाजीकरण। यह बडा अच्छा ग्रन्थ है। इसमें आयुर्वेदशास्त्र के मूलतत्व, आरोग्यविज्ञान, औषधिविज्ञान, द्रव्यरसों का वर्गीकरण, यन्त्रशस्त्रादिकों की जानकारी, गर्भ विवेचन, प्रसूतिशास्त्र, प्रकृति विचार आदि कई विषयों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त इसमें शालाक्य यंत्र, शल्य तंत्र संबन्धी रोग, विषचिकित्सा, रसायन तन्त्र और वाजीकरण आदि विषयों का विवेचन है। वाग्भट ने अपने सूत्रस्थान और उत्तर तन्त्र में अपना ग्रन्थ रचना चातुर्य और वैद्यकीय ज्ञान की अद्भुत् पारदर्शिता दिखलाई।

इन ग्रन्थों को पढने से मालूम होता है कि हमारे हिन्दू वैद्य शल्यशास्त्र में भी निपुण थे। उदर, कुक्षि, गर्भकोश आदि पर आवश्यकता पडने पर वे शस्त्र क्रिया करते थे। मूत्राश्म का छेद करने के लिये भी वे शस्त्रक्रिया से काम लेते थे। अंत्रवृद्धि, अर्श और भगंदर आदि को भी वे अच्छा करते थे। हड्डी टूट जाने पर वे बडी कुशलता के साथ उसे वापिस बैठा देते थे। औरभी कई

प्रकार की शस्त्रक्रियाएँ वे करते थे। शस्त्रक्रिया के लिये वे कई प्रकार के यन्त्रों को काम में लाते थे। यथा-सर्पफण, शरपुंखमुख, गर्भशंकु, तालयंत्र, शंकु, कंकमुख, स्वस्तिक यंत्र, मंडलाग्र, अर्धचंद्रमुख शलाका, सूचि, एषणी, मुचुंडी यंत्र, सनिग्रहसन्देश यंत्र, अशोकयन्त्र, योनिव्रणेक्षण, वृद्धिपत्र, शारीरमुख, वेतसपत्र, आटिमुख, अंगुलीशस्त्र आदि। इस प्रकार के कोई १२७ यंत्रों का हमारे वैद्यक ग्रंथों में वर्णन किया गया है और छेदन, भेदन, लेखन, व्याधन, एष्यम्, अर्ह्य, विस्रवण आदि शस्त्रक्रिया के कई भेद दिखलाये गये हैं।

वाग्भट का समय तीसरी शताब्दि में होना चाहिये। वाग्भट के बाद वृंदमाधव, वैद्यरहस्य, चिकित्सासार, भैषज्यरत्नावली, शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, निघंटु, माधवनिदान, लोलिंबराज, वातव्याधिचिकित्सा आदि, ग्रंथों के कर्ता होगये हैं। स्थानभाव के कारण इन सबका विस्तृत विवेचन करने में हम असमर्थ हैं।

मुसलमानी बादशाहत के समय से हमारी वैद्यक की उतरती कला आने लगी। यद्यपि बीच २ में कुछ वैद्य चमके थे, और उन्होंने कुछ ग्रन्थ भी लिखे थे, पर वे विशेष प्रकाश न पासके। मुसलमानी बादशाहत के समय कुछ राजाओं को भी वैद्यक का शौक था। जयपुर के महाराज राजसिंहजी ने अमृतसागर नामका एक हिन्दी ग्रन्थ लिखा था।

प्रसन्नता की बात है कि इस समय आयुर्वेद के विषय में कुछ जागृति दिखलाई पड रही है। आयुर्वेद विश्वविद्यालय खुलने के भी प्रस्ताव हो रहे हैं। कलकत्ते के कुछ कविराजों ने पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों वैद्यक-शास्त्रों का अध्ययन कर आयुर्वेद के औषधि विज्ञान को उत्तम बतलाया है। कई कविराजों ने बङ्गला

में आयुर्वेद के कई उत्तम ग्रंथ लिखे हैं। कुछ वैद्यों ने हिन्दी में ग्रन्थ लिखने की भी कृपा की है। इसमें महामहोपाध्याय शंकर दाजी पदे आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कविराज गणनाथ-सेन का "प्रत्यक्ष शारीर" भी इस युग का आयुर्वेद का महत्व-पूर्ण ग्रंथ है।

आर्यों का शल्य-शास्त्र (Surgery).

हमने ऊपर आयुर्वेद के क्रमविकास का विवेचन करते हुए हमारे आर्यों के शल्यशास्त्र विज्ञान का थोडासा दिग्दर्शन करवाया है पर वह पर्याप्त नहीं। इस विषय पर हम कुछ अधिक लिखना चाहते हैं, जिस से यह मालूम हो जाय कि हम लोगों ने प्राचीन काल में भी इस शस्त्र क्रिया में कितनी प्रगति करली थी। हमें हर्ष है कि हमारे कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी हमारी उस प्रगति को स्वीकार किया है, जो हम आज नहीं कल नहीं पर चार पांच हजार वर्ष के पहले ही कर चुके थे। प्रोफेसर विलसन का कथन है—

The ancient Hindus attained as thorough a proficiency in medicine and surgery, as any people whose acquisitions are recorded अर्थात् प्राचीन भारतवासियों ने औषधि विज्ञान, शल्यशास्त्र में वैसी ही पारदर्शिता प्राप्त की थी, जैसी कि उन लोगों ने, जिनके कार्य कि इतिहास में लिखे गये हैं। आगे चलकर प्रो० विलसन महोदय ने इसी सिलसिले में हिन्दू मटेरिया मेडिका की भी बडी तारीफ की है।

मि. वेबर लिखते हैं—"In surgery too, the Indians seem to have attained a special proficiency, and

in this department European surgeons, might perhaps even at the present day, still learn something from them अर्थात् शल्यविज्ञान में भी जान पड़ता है भारतवासियों ने विशेष पारदर्शिता प्राप्त की थी। इस क्षेत्र में युरोपियन सर्जन इस वक्त भी इनसे शायद कुछ सीख सकते हैं।

प्रोफेसर मेकडानल कहते हैं;-In modern days European surgery has borrowed the operation of rhinoplasty, or the formation of artificial nose from India, where English men become acquainted with the art in the last country अर्थात् इन दिनों में यूरोप के शस्त्रविज्ञान ने rhinoplasty का आपरेशन और कृत्रिम नाक का बैठाना हिन्दुस्थान से सीखा है। गत शताब्दि में युरोपियन इस कला से परिचित हुए।

एलफिन्स्टसन साहब लिखते हैं:—Their surgery is as remarkable as their medicine अर्थात् उनका शल्यविज्ञान उनके औषधि विज्ञान की तरह अपूर्व था।

मिसेज मेनिंग कहती है;—The surgical instruments of the Hindus were sufficiently sharp, indeed, as to be capable of dividing a hair longitudally अर्थात् हिन्दुओं के शस्त्र कॉफी तौर से इतने तेज (sharp) थे, कि बाल जैसे सूक्ष्म पदार्थ को भी विभक्त कर सकते थे।

डॉक्टर सील का कथन है;—That the Hindus practised dissection on dead bodies for purposes of demonstrations.........Post-mortem operations as well as major operations in osteric surgery

were availed of for embryological observations अर्थात् हिन्दू प्रयोग के लिये मृत शरीर की चीडफाड करते थे। वे मुर्दे का शरीर चीरकर उसकी परीक्षा भी करते थे और गर्भ-सम्बंधी रोगों के लिये भी चीरफाड करते थे।

सुश्रुत में कई शल्य यन्त्रों का वर्णन आया है, जिनमें से कुछ के नाम हम पहले लिख चुके हैं। सुश्रुत में बतलाया है कि इन सब के दस्ते अच्छे, जोड दृढ भली प्रकार रोगन किये हुए और अति तीक्ष्ण होने चाहिये, ताकि ये बाल तक को चीर सकें। ये स्वच्छ और ऊनी वस्त्र में लपेट कर लकडी के डब्बों में रखे जाते थे। इनमें कई प्रकार के चाकू, खास प्रकार के नश्तर, साधारण नश्तर, छीलनेवाले नश्तर, अन्तर्मुखी यंत्र, आरियां, हड्डी पकडने-वाले यन्त्र, कैंचियां जलोदर चीरने के खास यंत्र और सुइयां थीं। शब्दद्वारा रोगपरीक्षा करने का यंत्र भी काम में लाया जाता था। चौदह प्रकार की पट्टियां बांधने के काम में लायी जाती थीं। प्रतिकूल पदार्थ को शरीर से बाहर निकालने में भी हमारे वैद्य बडे प्रवीण थे। किसी के शरीर में लोहे के कण चले जाते तो लोह-चुंबक का किसी विशेष प्रकार से उपयोग कर वे उन्हें शरीर से निकाल देते थे। सूजन के लिये दाहघ्न पथ्य तथा लेप काम में लाये जाते थे। कच्चे फोडे पर पुलटिस लगाना तथा गर्म जल से सेंकना आदि क्रियाएँ आजकल की तरह पहले भी की जाती थीं। जलंदर तथा अण्डकोश में पानी उतरने के लिये यन्त्र विशेष से थापते थे। अंत्रवृद्धि की निवृत्ति के लिये अंडकोष पर शस्त्र क्रिया करते थे। पथरी निकालने की विधि भी प्रचलित थी। कुरूप नाक को शल्यक्रिया द्वारा सुन्दर बना देते थे। नेत्र-सम्बन्धी शस्त्रक्रिया में मोतियाबिन्दु का निकालना भी वे जानते थे। प्रसवकर्म तथा गर्भमोचन शस्त्र-क्रियाएँ भी बहुत थीं।

इसके अतिरिक्त हिन्दू वैद्य रक्ताभिसरण के तत्वको भी जानते थे। महामहोपाध्याय कविराज श्रीगणनाथसेन अपने "प्रत्यक्ष शारीरम्" ग्रन्थ में लिखते हैं:—

The proof that the ancients knew the fact of the circulation of blood and consequently the difference between arteries and veins is unquestionable. Indeed the term sira has yet survived in the original sense of veins exclusively in the chapter of Sushruta dealing with venesection or blood letting. अर्थात् इस बातका प्रमाण कि प्राचीन वैद्य रक्त परिभ्रमण के तत्व से विज्ञ थे और इसीलिये धमनियां तथा सिराओं का भेद जानते थे निर्विवाद है। निःसन्देह सिरा का प्रयोग अबतक भी वास्तविक अर्थो में सुश्रुत के एक पूर्ण अध्याय में हो रहा है, जो रक्त निकालने और फसद खोलने से सम्बन्ध रखता है।

इस प्रकार आर्यों की शल्य-शास्त्र प्रवीणता कई बातों से सिद्ध होती है। इन सबका विस्तृत विवेचन करने के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है।

आर्यवैद्यों का शरीरशास्त्र और व्यवच्छेदन विषयक ज्ञान।

यह देखकर सचमुच बडा आश्चर्य होता है कि हमारे आर्य वैद्यों को दो ढाई हजार वर्ष पहले भी शरीरशास्त्र, व्यवच्छेदनशास्त्र का बहुत कुछ ज्ञान था। जो बातें आज की नयी से नयी खोजों से मालूम हो रही हैं, उनका हमारे आर्य्य वैद्यों ने कई हजार वर्ष

पहले पता चला लिया था। हिन्दू वैद्यक ग्रन्थों में मनुष्य शरीर में ५०० नसें (muscles) मानी हैं। इसके अतिरिक्त शरीर सम्बन्ध में हमारे आर्य्य वैद्यक ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, उसकी कई बातें आधुनिक शरीर शास्त्र से भी मिलती जुलती हैं। हिन्दुओं का व्यवच्छेदन शास्त्र तो कई अंशों में आधुनिक पाश्चात्य व्यवच्छेदन शास्त्र से मिलता जुलता है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य डॉक्टर Hoernle का कथन है:—

" Its extent and accuracy are surprising अर्थात् हिन्दुओं के व्यवच्छेदनशास्त्र का विस्तार और यथार्थता तो आश्चर्यकारक है। आधुनिक अस्थिविद्या (osteology) के अनुसार मानवी शरीर में २०० अस्थियां हैं। चरक ने ३६० और सुश्रुत ने ३०० मानी हैं। चरक ने दांतों के Sockets की और २० नाखूनों की भी अस्थियों में गणना की है। सुश्रुत ने इनकी अस्थियों में गणना नहीं की। इससे चरक और सुश्रुत में अस्थियों के सम्बन्ध में यह अंतर पड गया। अब सवाल यह होता है कि सुश्रुत ने १०० अस्थियां अधिक क्यों मानी ? इसका कारण यह है कि सुश्रुत ने कई उपास्थियों (cartilages) को भी अस्थियां मानली हैं। इसीसे यह १०० की संख्या अधिक बढ गई।

इसके अतिरिक्त हमारे प्राचीन हिन्दू वैद्यों को पाचनक्रिया (digestion) और रक्ताभिसरण की क्रियाएँ भी मालूम थीं। हां, स्नायविक तन्तुजाल (Nervous system) के विषय में आधुनिक वैद्यक विज्ञान की दृष्टि से उन्होंने अवश्य भूल की थी। एक विद्वान् का कथन है कि इसके सम्बन्ध में जो भूल ग्रीक [illegible] ने की थी, वही भूल हिन्दू वैद्यों ने भी की। इन

सब ने चैतन्य का मध्य स्थान हृदय को मान लिया था। पर हमारे हिन्दू तन्त्रशास्त्रियों और योगियों ने इस भूल को सुधार लिया। और उन्होंने मस्तिष्क और मेरुदण्ड (Spinal cord) ही को मन की इन्द्रिय कहा है.

उस राष्ट्र की सभ्यता अत्यन्त उच्च श्रेणी पर पहुंची हुई थी। हमारे आर्यों ने ज्योतिःशास्त्रों की तथा अन्य शास्त्रों की जो आश्चर्यकारक उन्नति की थी, उसमें उनकी सभ्यता का अपूर्व विकास प्रमाणित होता है। आज हम यह दिखलाना चाहते हैं कि ज्योतिःशास्त्र में हमारे भारतवासियों ने कब कब कैसी २ प्रगति की।

ज्योतिःशास्त्र विषयक शोध हमारे भारतवर्ष में कई हजार वर्षों से होते आरहे हैं। सुप्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासवेत्ता एलफिन्स्टन कहते हैं कैसिनी (Cassini) बैली (Bailly] और प्रोफेसर इस बात को सिद्ध करते हैं कि ईसवी सन के ३००० वर्ष पहले हिन्दुओं ने जो वेध लिये थे, वे अब भी मौजूद हैं और हिन्दुओं की ज्योतिःशास्त्र विषयक आश्चर्यकारक प्रगति को सूचित करते हैं। प्रोफेसर वेबर महोदय का कथन है कि भारत में ईसवी सन पूर्व २७८० वर्ष में भी ज्योतिःशास्त्र प्रचलित था। Count Bjornstjerna का कथन है कि कलियुग के आरम्भ में भी हिन्दुओं का ज्योतिःशास्त्र बडी उन्नति पर था (कलियुग को आरंभ हुए ५००० वर्ष हुए है) सर डब्ल्यू हंटर का कहना है कि कई बातों में हिन्दू ज्योतिःशास्त्र ग्रीकों के ज्योतिःशास्त्र से बहुत आगे बढ गया था. इस संबंध में हिन्दुओं की कीर्ति पश्चिम में बहुत फैली थी। डाक्टर राबर्टसन कहते हैं कि बारह राशियों का ज्ञान सबसे पहले भारत को हुआ और वहीं से यूरोप ने प्राप्त किया।

वैदिक काल का समय पौर्वात्य पंडितों के मतानुसार कम से कम दस हजार वर्ष पूर्व और पाश्चात्य पंडितों के मतानुसार ५००० वर्ष पूर्व ठहरता है। हम इस वक्त अगर पाश्चात्य पंडितों ही के

मत को मानें तो भी यह सिद्ध होता है कि ५००० वर्ष के पहले अर्थात् वैदिक काल में हिन्दु ज्योतिःशास्त्र का अस्तित्व था। चन्द्र का परिवर्तन, सूर्य का आकर्षण, ग्रहों का कारण, आदि कई बातों का पता हमारे वैदिक ऋषियों ने चला लिया था। चन्द्र का वेध लेकर उन्होंने सत्ताईस नक्षत्रों का आविष्कार किया था। ऋक संहिता, तैत्तरीय संहिता, अथर्व संहिता और तैत्तरीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में इन बातों का विवेचन है। हिन्दुओं के आविष्कार किये हुए इन्हीं नक्षत्रों को चीनी लोगों ने ग्रहण किये। हमारे वैदिक ऋषियों ने कई हजार वर्ष पहले यह बात जान ली थी कि सूर्य अपनी ओर पृथ्वी को आकर्षण करता है। इसका प्रमाण श्रुति में, ऋक संहिता के तीसरे अष्टक के चौथे अध्याय में मिलता है।

"मित्रो जनान्या तयीत ब्रुवाणो मित्रोदाधार पृथिवी मुतद्यां।
मित्रः कृष्टीरनि मिषाभिचष्टे मित्राय हव्यं घृत वज्जुहोत॥

इस ऋचा का अर्थ यह है कि सर्व प्रजा को मित्र का अर्थात् सूर्य का आधार है और वह पृथ्वी को अपनी ओर आकर्षण करता है और इसके आकर्षण से वह क्षणभर भी नहीं छूटता।" अत्रि ऋषि ने ग्रहण के विषय में कहा था—

अत्रिःसूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरपमायाऽअघुक्षत।
विश्वे सूर्यं स्वभानुस्तमसा विध्यसुरः। अत्रयस्तमन्व विंदन्न
ह्यऽन्येऽअशक्नुवन्। (ऋक संहिता अष्टक ४ अध्याय २)

इसका आशय यह है कि सूर्यमण्डल अर्थात् सुर तथा स्व प्रकाश गोल के दर्शन होने में असुर अर्थात् परप्रकाशक गोल (जिसे स्वर्भानु किंवा स्तर्भानु की संज्ञा है, वह) अडकाव करता

है। यह वेध प्रथमतः अत्री ने आविष्कार किया इसका ज्ञान इसके पहले किसी को नहीं था।

इसी प्रकार वैदिक समय में हमारे ऋषियों को भी यह भी बात ज्ञात होगई थी कि सूर्य के तेज से जल की भाफ बनकर आकाश में सर्वत्र फैल जाती है और फिर उसीसे मेघ बनकर पर्जन्य वृष्टि होती है। यजुर्वेद की आपस्तंब संहिता में यही बात कही गई है—

"अग्निर्वाइतो वृष्टि मुदीरयति मरुतः
सृष्टां नयंति यदा खलु वा असावादित्योन्यङ्राश्मिभिः
पर्यावर्त तेथ वर्षति।

स्मृति में भी इसी आशय के वचन कहे हैं—

अग्नौ प्रास्ता हुतिः सम्यक् आदित्य मुपतिष्ठते।
आदित्या ज्जायते वृष्टिर्वृष्टे रन्नं ततः प्रजा॥

इस प्रकार के और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिन्हें हम यहां स्थानाभाव के कारण उद्धृत नहीं कर सकते। एक २ विषय पर दोचार प्रमाण ही उचित होंगे।

भरतखण्ड की अन्य ज्ञान सम्पति जिस प्रकार मुसलमानी बादशाहत के जमाने में नष्ट की गई, वैसे ही ज्योतिःशास्त्र के कई अच्छे २ ग्रंथ भी उस समय नाश होगये। कुछ वर्ष हुए "अद्भुत सागर" नामक एक ज्योतिःशास्त्र का अप्राप्य ग्रन्थ मिला है। यह ग्रन्थ एक तलघर में एक सज्जन को छुपा हुआ मिला था। इसके देखने से हमारे पूर्वजों के अगाध शोध और उनके अनुपम ज्ञान का दिग्दर्शन होता है। इस ग्रन्थ के विषय गहन और अद्भुत

है। इसमें इन्द्रधनुष्य, सूर्यप्रकाश मीमांसा, धूमकेतु आदि कई विषयों का तत्व विवेचन किया गया है। हमें आश्चर्य होता है कि इतने प्राचीन काल में भी हमारे ऋषियों ने कैसे २ आश्चर्यकारक शोध discovery कर लिये थे। इंद्रधनुष क्यों होता है, इसके सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में लिखा है—

"सूर्यस्य विविध वर्णाः पवनोदक मेवच ।
घटिताः साभ्रेधनुः संस्थानाये दृश्यंते तदिंद्रधनुः ॥

अर्थात् सूर्य की विविध प्रकार की किरणें (वर्ष) वायु और जल का संयोग पाकर मेघाच्छादित आकाश में जो चमत्कार प्रकट करती हैं, वह इन्द्रधनुष है।

इसी विषय पर काश्यप ऋषि ने कहा है—

रवि किरण जलद मरुतां संघातो ।
धनु स्थिस्थितो धनुर्मघोन्नः ॥

इसका भाव यह है कि सूर्य की किरणें वायु और मेघ से मिश्रित होने के कारण स्थलांतर पर जो धनुष्याकृति दीख पडती है, वही इन्द्रधनुष है।

आधुनिक ज्योतिषियों ने अपनी खोज द्वारा यह प्रकट किया है कि सूर्य स्वयं प्रकाश नहीं है, वरन् सूर्य का वातावरण ज्योतिर्मय होने के कारण वह प्रकाशमान् दीखता है। अद्भुतसागर में भी यही बात कही गई है। उसमें कहा है—

[illegible] वातोयोंशु मेघने प्रखर तेजो युकम् ॥

[illegible] का वातावरण प्रखर तेज से युक्त है।

धूमकेतुओं का भी हमारे आर्यों ने शोध लगा लिया था। इस सम्बन्ध में वे आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों तक से आगे बढ़ गये थे। चीनी लोगों ने ३०० धूमकेतु माने हैं। आर्य्य विद्वानों को ७०० धूमकेतुओं का पता लगा था। वे इनके अतिरिक्त दूसरे उपधूमकेतु भी मानते हैं और कहते हैं कि ये चंद्र के समान प्रकाशित हैं।

१ धूमकेतु नामेक सहस्र संख्येति

२ धूमकेतोः सुताघोराः शतमेकाधिकंचतत्।

३ शशिवद् भासमानास्तांवत्रा।

हिन्दुओं का सुप्रसिद्ध ज्योतिषी लगधाचार्य्य जो लगभग ईसवी सन् ११८१ वर्ष पहले हुआ, एक वर्ष को ३६० दिनों में बांट दिया और उसने प्रत्येक पांच वर्ष में एक अधिक मास की योजना की। इसके अतिरिक्त स्थिर ग्रहों का, चन्द्रकी गति का और सत्ताईस नक्षत्रों का उसने अपने ग्रन्थ में विवेचन किया है।

जैसा हम ऊपर एक जगह कह चुके हैं युरोप के नामाङ्कित ज्योतिषी व विद्वान् क्यासिनी, बेली और फ्लेफेअर आदि ने यह सिद्ध किया है कि ईसवी सन् के तीन हजार वर्ष पहले ग्रहनक्षत्रों के हिन्दू द्वारा लिये हुए वेध अबतक उपलब्ध हैं। इससे हम लोग चार हजार वर्ष के पहले भी इस विद्या में कितने पारंगत थे, यह प्रकट होता है। ग्रीस से हमारा ज्योतिःशास्त्र विषयक ज्ञान बहुत पुराना है। वैदिक काल में ज्योतिर्विद्या हिन्दुओं से पाश्चात्य राष्ट्रों को प्राप्त हुई और कालान्तर से इस विषय में ग्रीक लोगों ने आगे पैर बढ़ाये। ईसवी सन पूर्व ३२७ वर्ष के बाद जब सिकंदर ने हिन्दुस्थान पर चढ़ाई की तब हिन्दुस्थान और ग्रीस का आपसी

सम्बन्ध घनिष्ट होगया। इस समय ज्ञान का विनिमय भी विशेष रूप से होने लगा। इस वक्त से हिन्दू लोग वैज्ञानिक पद्धति से अन्वेषण करने लगे। इससे इस विषय को अधिक सूक्ष्मता और व्यापकता प्राप्त होगई। यह लाभ ग्रीक लोगों के सहवास से हुआ। पर हिन्दुओं ने अपनी अगाध कल्पनाशक्ति और प्रतिभा का परिचय संसार को दिया और उनकी यशोदुंदुभी सारे संसार में बजने लगी।

आर्य ज्योतिर्विद्या के उत्कर्षकाल में पहला चमकने वाला तारा आर्यभट था। इसका जन्म ईसवी सन् ४७६ में कुसुमपुर (पाटलिपुत्र या पटना) में हुआ। इसने अपनी तेईस वर्ष की अवस्था में दशगीतसूत्र और आर्याष्टशत ग्रन्थ रचे। इसके बहुत वर्ष बाद उसने आर्य सिद्धान्त नामक ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ सुप्रसिद्ध है और इसमें अठारह अध्याय हैं। आर्यभट के सिवा लाघ, पुलिश, श्रीहेण, विष्णुचंद्र आदि कई ज्योतिषी होगये और उन्होंने सौर सिद्धान्त, पौलिश-सिद्धान्त, रोमकसिद्धांत, वसिष्टसिद्धान्त आदि कई ग्रंथ रचे। आर्यभट के बाद ईसवी सन् ५०४ में वराहमिहिर का जन्म हुआ। उसने बृहत्संहिता, समाससंहिता और होराशास्त्र आदि ग्रन्थ लिखे। बृहत्संहिता पर भट्टोत्पल ने उत्तम टीका की है। वराहमिहर ईसवी सन् ५८७ में स्वर्गवासी हुआ। इसके बाद हिंदू ज्योतिःशास्त्र की चहुं ओर बडी ख्याती हुई। ग्रीक लोग यद्यपि पहले भी हिंदू ज्योतिःशास्त्र के महत्व से परिचित थे। पर इस समय भी ग्रीक लोगों ने अपने क्रॉनिकल [illegible] नामक ग्रन्थमें हिन्दु ज्योतिःशास्त्र की सहायता से बहुत कुछ [illegible] किया। फिर सातवीं सदी में ब्रह्मगुप्त नाम का नामाङ्कित ज्योतिषी हुआ। इसके अतिरिक्त पराशर, शक्तिपूर्व, विष्णुगुप्त, [illegible], [illegible], [illegible] शर्मा, [illegible] आदि कई बडे २ ज्योतिषी

होगये। ब्रम्हगुप्त के बाद आठवीं और नवीं सदी में अरब लोग हिन्दुओं के शिष्य बने और उन्होंने हिन्दुओं से ज्योतिर्विद्या प्राप्त की। उन्होंने हमारे ज्योतिः सिद्धान्त का अरबी भाषान्तर करवाया और उसका नाम सिन्धेन्ध रखा। इसके बाद ईसवी सन् ८९९ के लगभग लघु भास्कर नामक ज्योतिर्षी हुआ। अल्-बीरुणी लिखता है कि इसने करणसार नामक ग्रन्थ लिखा। इसके बाद भारत का मुखोज्वल करनेवाले सुप्रख्यात् ज्योतिषी श्री भास्कराचार्य बारहवीं सदी में हुए। इनका जन्म शक १०३६ (ईसवी सन् ११,१४) में हुआ। इन्होंने सिद्धांतशिरोमणि और कारण कुतूहल नामक ग्रन्थ रचे। इनमें पहला ग्रन्थ अत्यन्त प्रख्यात् है। आधुनिक ज्योतिषियों ने अथाह परिश्रम और वैज्ञानिक अनुसन्धान के बाद ज्योतिःशास्त्र सम्बन्धी जो बातें प्रकट की हैं, वे उनमें से कई बातें सिद्धान्तशिरोमणि में मिलती हैं। आजकल के ज्योतिषियों की तरह सिद्धान्तशिरोमणि के कर्ता ने भी पृथ्वी को गोल माना है। उसने कहा है:—

भूमेः पिंडःशशांकज्ञ कवि रविकुजे ज्यार्कि नक्षत्र कक्षा
वृत्तैर्वृत्तोवृतः सन्मृदानिल सलिल व्योम तेजोमयोयम्।
नान्याधारः स्वशक्तयैव वियति नियतं तिष्ठती ह्यस्यपृष्टे
निष्टं विश्वंच शश्वत् सदनुजमनुजा दित्य दैत्यं समंतात्॥

इसका आशय यह है कि पृथ्वी का पिंड गोल होकर वह पंच भूतात्मक है। वह चन्द्र के समीप है। चन्द्र के बाद बुध, शुक्र, और सूर्य है। इनके अतिरिक्त मंगल गुरु, शनि और नक्षत्रादि वर्तुल गोलों से वह परिवेष्टित है। वह (पृथ्वी का पिंड) बिना किसी आधार के आकाश में दैव, दैत्य, मनुष्य और राक्षस आदि सहित नियमित रूप से टिका हुआ है।

सम्बन्ध घनिष्ट होगया । इस समय ज्ञान का विनिमय भी विशेष रूप से होने लगा । इस वक्त से हिन्दू लोग वैज्ञानिक पद्धति से अन्वेषण करने लगे । इससे इस विषय को अधिक सूक्ष्मता और व्यापकता प्राप्त होगई । यह लाभ ग्रीक लोगों के सहवास से हुआ । पर हिन्दुओं ने अपनी अगाध कल्पनाशक्ति और प्रतिभा का परिचय संसार को दिया और उनकी यशोदुंदुभी सारे संसार में बजने लगी ।

आर्य ज्योतिर्विद्या के उत्कर्षकाल में पहला चमकने वाला तारा आर्यभट था । इसका जन्म ईसवी सन् ४७६ में कुसुमपुर (पाटलिपुत्र या पटना) में हुआ । इसने अपनी तेईस वर्ष की अवस्था में दशगीतसूत्र और आर्याष्टशत ग्रन्थ रचे । इसके बहुत वर्ष बाद उसने आर्य सिद्धान्त नामक ग्रंथ लिखा । यह ग्रंथ सुप्रसिद्ध है और इसमें अठारह अध्याय हैं । आर्यभट के सिवा लाघ, पुलिश, श्रीहेण, विष्णुचंद्र आदि कई ज्योतिषी होगये और उन्होंने सौर सिद्धान्त, पौलिश-सिद्धान्त, रोमकसिद्धांत, वसिष्टसिद्धान्त आदि कई ग्रंथ रचे । आर्यभट के बाद ईसवी सन् ५०४ में वराहमिहिर का जन्म हुआ । उसने बृहत्संहिता, समाससंहिता और होराशास्त्र आदि ग्रन्थ लिखे । बृहत्संहिता पर भट्टोत्पल ने उत्तम टीका की है । वराहमिहर ईसवी सन् ५८७ में स्वर्गवासी हुआ । इसके बाद हिंदू ज्योतिःशास्त्र की चहुं ओर बडी ख्याती हुई । ग्रीक लोग यद्यपि पहले भी हिंदू ज्योतिःशास्त्र के महत्व से परिचित थे । पर इस समय भी ग्रीक लोगों ने अपने कॉनिकल [illegible] नामक ग्रन्थमें हिन्दु ज्योतिःशास्त्र की सहायता से बहुत कुछ [illegible] किया । फिर सातवीं सदी में ब्रह्मगुप्त नाम का नामाङ्कित ज्योतिषी हुआ । इसके अतिरिक्त पराशर, शक्तिपूर्व, विष्णुगुप्त, [illegible], [illegible], [illegible] शर्मा, [illegible] आदि कई बडे २ ज्योतिषी

होगये। ब्रम्हगुप्त के बाद आठवीं और नवीं सदी में अरब लोग हिन्दुओं के शिष्य बने और उन्होंने हिन्दुओं से ज्योतिर्विद्या प्राप्त की। उन्होंने हमारे ज्योतिः सिद्धान्त का अरबी भाषान्तर करवाया और उसका नाम सिन्धेन्ध रखा। इसके बाद ईसवी सन् ८९९ के लगभग लघु भास्कर नामक ज्योतिर्ज्ञ हुआ। अल्बीरुणी लिखता है कि इसने करणसार नामक ग्रन्थ लिखा। इसके बाद भारत का मुखोज्वल करनेवाले सुप्रख्यात् ज्योतिषी श्री भास्कराचार्य बारहवीं सदी में हुए। इनका जन्म शक १०३६ (ईसवी सन् १११४) में हुआ। इन्होंने सिद्धांतशिरोमणि और कारण कुतूहल नामक ग्रन्थ रचे। इनमें पहला ग्रन्थ अत्यन्त प्रख्यात् है। आधुनिक ज्योतिषियों ने अथाह परिश्रम और वैज्ञानिक अनुसन्धान के बाद ज्योतिःशास्त्र सम्बन्धी जो बातें प्रकट की हैं, वे उनमें से कई बातें सिद्धान्तशिरोमणि में मिलती हैं। आजकल के ज्योतिषियों की तरह सिद्धान्तशिरोमणि के कर्ता ने भी पृथ्वी को गोल माना है। उसने कहा है:—

भूमेः पिंडःशशांकज्ञ कवि रविकुजे ज्यार्कि नक्षत्र कक्षा
वृत्तैर्वृत्तोवृतः सन्मृदनिल सलिल व्योम तेजोमयोयम्।
नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठती ह्यस्यपृष्टे
निष्टं विश्वंच शश्वत् सदनुजमनुजा दित्य दैत्यं समंतात्॥

इसका आशय यह है कि पृथ्वी का पिंड गोल होकर वह पंच भूतात्मक है। वह चन्द्र के समीप है। चन्द्र के बाद बुध, शुक्र, और सूर्य है। इनके अतिरिक्त मंगल गुरु, शनि और नक्षत्रादि वर्तुल गोलों से वह परिवेष्टित है। वह (पृथ्वी का पिंड) बिना किसी आधार के आकाश में देव, दैत्य, मनुष्य और राक्षस आदि सहित नियमित रूप से टिका हुआ है।

पृथ्वी के आकर्षण के विषय में लिखा है:—

" आकृष्ट शक्तिश्च महीतयायत् स्वस्थं गुरुस्वाभिमुखंस्वशक्त्या ।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समंतात्क्व पतत्वियं रवे ॥

इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति होने से, वह आकाश के पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करती है। इससे वे गिरते हुवे दीखते हैं। पर वास्तव में यह बात नहीं है। वे पदार्थ आकर्षणशक्ति से पृथ्वी की ओर खींचे जाते हैं। न्याय-शास्त्र में पृथ्वी की व्याख्या इस प्रकार की गई है।

" गंधवती, पृथ्वी, सानित्या अनित्याच, नित्या
परमाणुरूपा अनित्या कार्यरूपा "

इससे भी पृथ्वी की आकर्षणशक्ति सिद्ध होती है।

कई लोगों का कहना है कि पृथ्वी के घूमने की और सूर्य के स्थिर रहने की बात पाश्चात्य ज्योतिषियों ने प्रकट की है। पर वास्तव में यह बात नहीं है। हमारे प्राचीन ऋषियों और ज्योतिषियों को भी यह बात मालूम थी। पृथ्वी को वार्षिक गति के लिये ऋग्वेद में लिखा है:—

या गौर्वर्तनीं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीर वारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाश द्धविषा विवस्वते ॥

[illegible] ब्राम्हण में लिखा है कि सूर्य न तो अस्त होता है [illegible] होता है। जब पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमने के कारण [illegible] होती है, तब दिन होता है। अत्रेय ब्राम्हण का यह मन्त्र [illegible] है।

" अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रे रेव तदन्त
मित्वा अथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते
रात्रिम् पुरुस्तात् । सवै एष न कदाचन निम्लोचति,
नह वै कदाचना निम्लोचति । "

ध्रुव प्रदेश में छः मासका दिन और छः मास की रात्रि होती है।
ाश्चर्य की बात है कि हमारे प्राचीन ज्योतिषी भी इस बात को
ानते थे। उन्होंने लिखा है:—

" विषुवद्वृत्तं द्युसदां क्षितिजित्वमितं तथाच दैत्यानां ।
उत्तर याम्यौ क्रमशो मूर्द्धोद्ध गताधुर वायतस्तेषां ।
उत्तर गोले क्षितिजि जा दुर्द्ध परितो भ्रमन्त मादित्यम् ।
हर्व्यंचिदशः सततं पश्यन्त्यसुराः असन्य गंयाम्य ॥

पृथ्वी, ग्रह और धूमकेतु आदि सूर्य से प्रकाश ग्रहण करते
इसके सम्बन्ध में कहा है:—

भूग्रहमानां गोलार्द्धानिव स्वाच्छायया विवर्णानि ।
अर्द्धानि यथासारं सूर्य्याभिमुखानिदीप्यन्त ॥

अर्थात् पृथ्वी, ग्रह और धूमकेतु आदि सब सूर्य से प्रकाश
ते हैं। इनका आधा भाग जो सूर्य की ओर रहता है, वह
ाशित रहता है। अथर्व वेद में कहा है:—

" दिविसोमो आधिश्रितः

अर्थात् चन्द्रमा अपने प्रकाश के लिये सूर्य पर निर्भर रहता
ग्रहण के विषय में आर्य्यभट ने कहा है:—

"छादयेत्यर्क मिन्दुर्विधुं भूमिभाः

अर्थात् जब पृथ्वी परिभ्रमण करती हुई सूर्य और चन्द्र के बीच आजाती है और उस समय चन्द्र पर पृथ्वी की छाया पडने से जो दृश्य उपस्थित होता है, वही चन्द्रग्रहण है। जब चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी के, बीच में आता है, उस वक्त सूर्य आधा कटा हुआ दीखता है, उसे सूर्यग्रहण कहते हैं।

उपरोक्त अवतरणों से पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि हमारे ज्योतिःशास्त्र ने कितनी आश्चर्यकारक उन्नति की थी। इस वैज्ञानिक काल में अथाह परिश्रम और अनन्त धनव्यय के बाद विज्ञानियों ने ज्योतिःशास्त्र सम्बन्धी जिन २ मुख्य सिद्धान्तों के आविष्कार किये हैं वे प्रायः सब हमारे ऋषियों को और ज्योतिषियों को मालूम थे। दुःख इस बात का है कि मुसलमान बादशाहों ने हमारी ज्ञान सम्पत्ति को बुरी तरह नष्ट किया। उन्होंने हमारे कई अमूल्य ग्रन्थ नष्टभ्रष्ट कर डाले। इससे हमें अपने पूर्वजों की ज्ञान सम्पत्ति का १/२०० अंश भी ज्ञान उपलब्ध होता है या नहीं, इसमें भी शङ्का है। भास्कराचार्य्य के बाद इन्हीं मुसलमान बादशाहों के जुल्म से ज्योतिःशास्त्र की चमकती हुई कला भी मंद पडने लगी। पीछे जाकर सन १७१०-१७३९ के बीच इसके सूर्य का फिर अरुणोदय दृष्टिगत होने लगा। जयपुर के सुप्रख्यात् विद्वान् राजा जयसिंह ने ग्रहों का वेध लेने के लिये जयपुर, दिल्ली, काशी, मथुरा, उज्जैन आदि स्थानों में वेधशालाएं स्थापित कीं। इनमें अभी काशी की वेधशाला मौजूद है। बाकी की टूटी-फूटी दशा में हैं।

ज्योतिःशास्त्र का जगद्गुरु भी भारत था।

हमारे उपरोक्त विवरण से हमारे ज्योतिःशास्त्र की प्राचीनता स्पष्ट रीति से सिद्ध होती है। हमहीं ने संसार में सबसे पहले

इस विद्या में प्रवीणता प्राप्त की थी। हमारे ज्योतिःशास्त्र की तुलना में ग्रीक ज्योतिःशास्त्र नया है। हिन्दू ज्योतिःसूर्य उदय होनेके कोई सत्ताईस सौ, अट्ठाईस सौ वर्ष बाद ग्रीस देश में नक्षत्र निरीक्षण का कार्य आरंभ हुआ। ईसवी सन् पूर्व बारह सौ तेरह सौ वर्ष पहले के ग्रीक ग्रन्थों में नक्षत्रों का उल्लेख मिलता है। इसके पहले के किसी ग्रन्थ में ज्योतिःशास्त्र सम्बन्धी किसी बात का उल्लेख नहीं है। हमारे यहां तो ऋग्वेद तक में ज्योतिःशास्त्र विषयक कई बातों का उल्लेख है। इससे यह तो साफ होता है कि ज्योतिःशास्त्र सम्बन्ध में हमारे शोध सबसे पहले के हैं। इस सम्बन्ध में हम किसी राष्ट्र के ऋणी नहीं हैं। दूसरे राष्ट्र हमारे ऋणी हैं। एक पाश्चात्य विद्वान्* का कथन है कि न्यूटन का सब तत्वज्ञान और शास्त्र मीमांसा वेदान्त में दृष्टिगोचर होती है और उसी में विश्व का सर्वाकर्षण शक्ति का प्रभाव जगह जगह प्रदर्शित किया गया है।

---

* Sir W. Jones ventures to affirm that the whole of Newtons Theology, and part of his philosophy, may be found in the Vedas, which also abound with allusions to a force of universal attraction.

अन्य शास्त्रों की तरह गणितशास्त्र में भी हमारे आर्य्यों ने आश्चर्यकारक उन्नति की थी। गणितशास्त्र में भी हमारा भारतवर्ष जगद्गुरु होने का दावा कर सकता है। हमारे ज्योतिःशास्त्र की प्राचीनता हमारे गणितशास्त्र की और भी अधिक प्राचीनता दिखलाती है। क्योंकि बिना गणितशास्त्र के ज्योतिःशास्त्र का काम ही नहीं चल सकता। अगर हमारा ज्योतिःशास्त्र पांच छः हजार वर्ष का पुराना है तो हमारा गणितशास्त्र इससे भी पुराना है। सारे गणितशास्त्र की नींव हमारे भारतवर्ष ही में लगी है। सारे संसार के जिम्मेदार और निःपक्ष विद्वान् इस बात को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। हमारे आर्य ही अङ्कों के मूल आविष्कर्ता थे। जर्मनी के सुप्रसिद्ध पण्डित श्लेगल (Schlegel) का कथन है कि दशांश (Decimal) के आविष्कार का यश हिन्दुओं को है। यह इतना महत्वपूर्ण आविष्कार है कि मानवी इतिहास में इसे दूसरा नंबर दिया जायगा। प्रोफेसर मेकडॉनल कहते हैं कि "गणितशास्त्र में युरोप हिन्दुस्थान का बहुत ऋणी है। यह एक बडे महत्व की हिन्दुओं ने संख्या के अङ्कों का आविष्कार किया, जो आज सारे संसार में चलते हैं ....आठवीं और नौवीं सदी में भारतवासी अर्बों के अङ्कगणित और बीजगणित के गुरु बने, और उनके द्वारा पाश्चात्य राष्ट्रों के गुरु बने।

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि गणितशास्त्र की कौन कौन सी शाखा में हमारे आर्यों ने किस २ प्रकार की प्रवीणता प्राप्त की थी।

अङ्क गणित।

मिसेस मेनिंग का कथन है कि दूसरे राष्ट्रों की तुलना में हिन्दू लोग अङ्क गणित की सब शाखाओं में विशेष पारंगत थे। प्रोफेसर वेबर महोदय कहते हैं कि अङ्क गणित में अरब लोग हिन्दुओं के शिष्य थे। यहीं नहीं बीज गणित में भी वे उनके शिष्य थे। इन दोनों में हिन्दुओं ने स्वतंत्र रूप से बड़ी पार-दर्शिता प्राप्त की थी। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि दशांश और अङ्क सबसे पहले हिन्दुओं ने आविष्कृत किये थे।

बीज गणित।

बीज गणित सम्बन्धी कितने ही सिद्धान्तों के आविष्कार के लिये तो आज सारा संसार हिन्दुओं का ऋणी होरहा है। इस शास्त्र के आविष्कार में तो हिन्दुओं पर एक रत्तीभर किसी का एहसान नहीं है। ईसवी सन की पांचवीं सदी में हिन्दुस्थान में यह शास्त्र पूर्ण बहुत कुछ विकसित हो गया था। आगे जाकर ब्रम्हगुप्त और भास्कराचार्य ने इस शास्त्रवृक्ष को जल देकर और भी बढाया। आर्यभट्ट का समकालीन ग्रीस का सुप्रसिद्ध बीज गणितज्ञ डायफान्टस था। यह ग्रीस देश का सबसे पहला बीज गणितज्ञ था। समीकरण को हल करने में डायफान्टस से आर्य्य भट अधिक तेज और बुद्धिमान् था। वह डायफान्टस से सब तरह श्रेष्ठ था। इस बात को पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं—

"But it is in Algebra that the Brahmans appear to have most excelled their contemporaries"........Not only is Bhatt superior to Diophantus, but he and his successors pressed hard upon the discoveries of Algebrists who lived almost in our own time."

" जब आर्यभट्ट के समय बीज गणित इतनी पूर्ण अवस्था को पहुंचा हुआ था, तब यह अनुमान करना गलत न होगा कि उसके कितनी ही सदियों पहले ही हमारे यहां इस शास्त्र का अन्वेषण हो रहा होगा। क्योंकि अनेक वर्षों के सतत खोज के बिना इस तरह के शास्त्र पूर्णता पर नहीं पहुंच सकते।

जो समीकरण ब्रम्हगुप्त ने ईसवी सन् की छः ही सदी में हल कर लिया था, वही समीकरण हल करने में युरोप को सौ वर्षतक निरन्तर परिश्रम करना पडा। इसमें कितने ही आला दिमाग खर्च होगये। सबसे पहले ईसवी सन् १६५७ में लॉर्ड बाऊँकर के दिमाग में यह बात आयी। उसने इसे हल करने का बहुत प्रयत्न किया, पर सब निष्फल हुआ। इसके बाद युलर नामक गणितज्ञ ने प्रयत्न किया, पर इसे भी सफलता न हुई। आखिर सन् १७६७ में डी० लॉ० ग्रेंज नामके एक सज्जन ने बडे लंबे परिश्रम के बाद इसे हल किया। कहिये हिन्दुओं ने ज्ञान की हर शाखा में कैसी प्रवीणता प्राप्त की थी। एक समय वह था कि उनसे सारे संसार को ज्ञान का प्रकाश मिलता था।

ज्यामिति।

गणित की इस शाखा में भी हमारे प्राचीन आर्यों ने हजारों वर्ष पहले बडे भारी उन्नति की थी। प्रोफेसर वेबेल का कथन है:—

" Geometry must have been known in India long before the writing of the Surya Siddhant which is supposed by the Europeans to have been written before 2000 B. C. अर्थात् ज्यामिति सूर्य सिद्धान्त के लिखे जाने के पहले हिन्दुस्थान में मालूम होना चाहिये । सूर्य्य सिद्धान्त का समय युरोपियनों के मतानुसार ईसवी सन् के पूर्व २००० वर्ष है । " आगे चलकर फिर यही प्रोफेसर महाशय कहते हैं ।

" Surya Siddhant contains a rational system of trignometry, which differs entiraly from the first known in Greece or Arabia अर्थात् सूर्य सिद्धान्त में त्रिकोणामिति की ऐसी युक्ति युक्त पद्धति है, जो उस पद्धति से बिलकुल भिन्न है जो ग्रीस और अरबस्थान में पहले पहल मालूम हुई थी । " इन्हीं वॉलेस महोदय ने अनेक प्रबल प्रमाणों के द्वारा यह भी सिद्ध किया किया है कि बहुत से ज्यामिति के सिद्धान्त जो पाश्चात्यों को दोसौ वर्ष के पहले भी मालूम नहीं थे, उनका हजारों वर्षों के पहले हिन्दुओं ने आविष्कार कर लिया था । मि. एलफिन्स्टन साहब ने भी इसी आशय का कथन किया है वे कहते हैं:—

" In the Surya Siddhant is contain a system of trignometry which not only goes for beyond anything known to the Greeks, but involves theorems which were not discovered in Europe till two centuries ago. अर्थात् सूर्य सिद्धान्त में त्रिकोण मिति की वह सुधरी हुई पद्धति समाविष्ट है, जो केवल ग्रीकों की सब से पहली जानी हुई पद्धति ही से परे नहीं जाती है, पर

जिसमें वे सिद्धान्त आगये हैं, जो दोसौ वर्ष पहले तक युरोप आविष्कृत नहीं हुए थे।

सुप्रसिद्ध विद्वान्, बहुभाषाभिज्ञ स्वर्गीय डॉक्टर टिबो साहब का कथन था कि जामिति की प्रथम पुस्तक का ४७ वां थियोरम (theorem) सब से पहले हिन्दुओं द्वारा हल किया गया था।

प्राचीन भारतवासियों का पदार्थ विज्ञान।

यद्यपि प्राचीन भारतवासियों का पदार्थ विज्ञान आज आधुनिक काल के मूजिब बढ़ा हुआ नहीं था, पर ग्रीक और अन्य राष्ट्रों के लोगों से. उस वक्त वे निःसन्देह बहुत चढ़े बढ़े थे। उन्हें वे बहुतसे तत्व मालूम थे, जिनका आधुनिक वैज्ञानिकों ने बड़े परिश्रम से आविष्कार किया है। उदाहरण के लिये परमाणुवाद को ले लीजिये। परमाणुवाद पर हिन्दू दर्शन ग्रन्थों में भली भांति विचार किया गया है। कुछ अर्से पहले पाश्चात्य विज्ञानियों का मत था कि परमाणु ही संसार में अन्तिम पदार्थ है। पर जब इलेक्ट्रॉन का पता चला, तब यह सिद्धान्त बदल गया और कहा गया कि परमाणु (atoms) ही अन्तिम पदार्थ नहीं है, पर उन की सङ्गठना भी अति परमाणुओं से हुई है। लाखों अति परमाणुओं का एक परमाणु होता है और ये अति परमाणु परमाणुओं में सौर जगत् के ग्रहों की तरह अत्यन्त तीव्र और अकल्पित तेजी से घूमा करते हैं। और एक परमाणु में अनन्त शक्ति भरी हुई है। हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि हमारे जैन ग्रन्थों में, आधुनिक विज्ञान के उपरोक्त सिद्धान्त का बहुत कुछ दिग्दर्शन होता है। उन्होंने परमाणुओं की संज्ञा उन तत्वों को दी है, जिन्हें आज कल के पाश्चात्य वैज्ञानिक इलेक्ट्रॉन कहते हैं और इन्हें सूक्ष्माति सूक्ष्म अर्थात् इतने सूक्ष्म कि जिनसे अधिक कोई सूक्ष्म तत्व नहीं हो सकता—माना है। परमाणुओं की सङ्गठना से, जैन तत्व दर्शन ग्रन्थ के अनुसार, अणु की सङ्गठना होती है और संसार में

जितने पदार्थ हैं, वे इन्हीं परमाणुओं के सङ्गठना के रूप हैं। जैन पण्डित उमा स्वामी के कथनानुसार इन परमाणुओं की सङ्गठना जिस विशिष्ट रूप से होती है, उस विशिष्ट रूप का पदार्थ बनता है। अर्थात् स्वर्ण में जिस विशिष्ट रूप से परमाणुओं का सङ्गठन हुआ है, उससे जुदी तरह से चांदी में हुआ है। अर्थात् संसार में जितने पदार्थ हैं, वे इन्हीं परमाणुओं के जुदे २ प्रकार के सङ्गठन के जुदे २ रूप हैं। जैन शास्त्रों में परमाणुओं में आकर्षण और विकर्षण शक्ति (attraction of repulsion) मानी है और इनमें अनन्त शक्ति भी स्वीकार की है। हम यह नहीं कहते कि जैन शास्त्रों में इस विषय का ठीक २ वैसाही वर्णन है, जैसा कि आधुनिक वैज्ञानिक ग्रन्थों में मिलता है। हमारे कहने का आशय यह है कि पदार्थ के स्वरूप की खोज में हमारे तत्वदर्शियों ने हजारों वर्षों के पहले कितने गजब का पल्डा मारा था ! जो महानुभाव प्राचीन परमाणुवाद का ज्ञान प्राप्त करना चाहें, उन्हें हम जैनियों के सुप्रसिद्ध तात्विक ग्रन्थ 'गौमटसार' और 'तत्वार्थ सूत्र' पढने की जोरसे सिफारिश करते हैं। महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन में भी इस विषय पर अच्छा विचार किया गया है।

गति विज्ञान के सम्बन्ध में भी हमारे ऋषियों ने अच्छा विचार किया है। वे सब इस विषय में एकमत हैं कि ध्वनि-विज्ञान, प्रकाश विज्ञान और उष्मा विज्ञान की नींव गति विज्ञान पर लगी हुई है। बिना गति के इनका अस्तित्व नहीं हो सकता। हमारे ऋषियों ने परमाणुओं में गति मानी है।

समय और अवकाश (Time and Space) का भी हमारे तत्वदर्शी ऋषियों ने जितना सूक्ष्म परिमाण निश्चित किया है,

उतना संसार के किसी देश के तत्वदर्शियों ने नहीं किया है। पाश्चात्य लोग सेकण्ड को समय का सबसे सूक्ष्म अंश समझते हैं पर हमारे ऋषियों ने त्रुति का परिमाण माना है, जो सेकण्ड का $\frac{१}{३३७५०}$ वां अंश है। किसी पदार्थ की मुटाई का भी जितना सूक्ष्म परिमाण हमारे तत्वदर्शी ऋषियों ने माना है, वह पाश्चात्यों के परिमाण से सैंकडों गुना अधिक सूक्ष्म है। पाश्चात्यों का नापने का सबसे सूक्ष्म परिमाण इंच है। हमारे ऋषियों का 'त्रसरेणु' है, जो इंच का $\frac{१}{३४९५२५}$ वां हिस्सा है।

हमारे ऋषियों ने पदार्थ और शक्ति को अनादि और अविनाशी माना है। उनका सिद्धान्त है कि इनके रूपान्तर होते रहते हैं, पर उनका नाश नहीं होता। यह बात आधुनिक विज्ञानी भी अब मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने लगे हैं।

इसके अतिरिक्त पदार्थ विज्ञान सम्बन्धी बहुत से तत्वों का हमारे ऋषियों को ज्ञान था, उनमें से कुछ यहां लिखते हैं।

उष्णता।

महर्षि कणाद के मतानुसार प्रकाश और उष्णता एक ही तत्व के भिन्न भिन्न रूप हैं। इस बातको पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।

सूर्य्य की गर्मी विश्व की सारी उष्णता का मूल भण्डार है। उदायन ऋषि की यह बात भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मतानुकूल है।

महर्षि वाचस्पति के मतानुसार उष्मा और प्रकाश की किरणों में अति सूक्ष्म परमाणु समाविष्ट है।

जितने पदार्थ हैं, वे इन्हीं परमाणुओं के सङ्गठना के रूप हैं। जैन पण्डित उमा स्वामी के कथनानुसार इन परमाणुओं की सङ्गठना जिस विशिष्ट रूप से होती है, उस विशिष्ट रूप का पदार्थ बनता है। अर्थात् स्वर्ण में जिस विशिष्ट रूप से परमाणुओं का सङ्गठन हुआ है, उससे जुदी तरह से चांदी में हुआ है। अर्थात् संसार में जितने पदार्थ हैं, वे इन्हीं परमाणुओं के जुदे २ प्रकार के सङ्गठन के जुदे २ रूप हैं। जैन शास्त्रों में परमाणुओं में आकर्षण और विकर्षण शक्ति (attraction of repulsion) मानी है और इनमें अनन्त शक्ति भी स्वीकार की है। हम यह नहीं कहते कि जैन शास्त्रों में इस विषय का ठीक २ वैसाही वर्णन है, जैसा कि आधुनिक वैज्ञानिक ग्रन्थों में मिलता है। हमारे कहने का आशय यह है कि पदार्थ के स्वरूप की खोज में हमारे तत्वदर्शियों ने हजारों वर्षों के पहले कितने गजब का पलडा मारा था ? जो महानुभाव प्राचीन परमाणुवाद का ज्ञान प्राप्त करना चाहें, उन्हें हम जैनियों के सुप्रसिद्ध तात्विक ग्रन्थ 'गौमटसार' और 'तत्वार्थ सूत्र' पढने की जोरसे सिफारिश करते हैं। महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन में भी इस विषय पर अच्छा विचार किया गया है।

गति विज्ञान के सम्बन्ध में भी हमारे ऋषियों ने अच्छा विचार किया है। वे सब इस विषय में एकमत हैं कि ध्वनि-विज्ञान, प्रकाश विज्ञान और उष्मा विज्ञान की नींव गति विज्ञान पर लगी हुई है। बिना गति के इनका अस्तित्व नही हो सकता। हमारे ऋषियों ने परमाणुओं में गति मानी है।

काल और अवकाश (Time and Space) का भी हमारे तत्वज्ञानी ऋषियों ने जितना सूक्ष्म परिमाण निश्चित किया है,

उतना संसार के किसी देश के तत्वदर्शियों ने नहीं किया है। पाश्चात्य लोग सेकण्ड को समय का सबसे सूक्ष्म अंश समझते हैं पर हमारे ऋषियों ने त्रुति का परिमाण माना है, जो सेकण्ड का $\frac{१}{३३७५०}$ वां अंश है। किसी पदार्थ की मुटाई का भी जितना सूक्ष्म परिमाण हमारे तत्वदर्शी ऋषियों ने माना है, वह पाश्चात्यों के परिमाण से सैकड़ों गुना अधिक सूक्ष्म है। पाश्चात्यों का नापने का सबसे सूक्ष्म परिमाण इंच है। हमारे ऋषियों का 'त्रसरेणु' है, जो इंच का $\frac{१}{३४९,५२०}$ वां हिस्सा है।

हमारे ऋषियों ने पदार्थ और शक्ति को अनादि और अविनाशी माना है। उनका सिद्धान्त है कि इनके रूपान्तर होते रहते हैं, पर उनका नाश नहीं होता। यह बात आधुनिक विज्ञानी भी अब मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने लगे हैं।

इसके अतिरिक्त पदार्थ विज्ञान सम्बन्धी बहुत से तत्वों का हमारे ऋषियों को ज्ञान था, उनमें से कुछ यहां लिखते हैं।

उष्णता।

महर्षि कणाद के मतानुसार प्रकाश और उष्णता एक ही तत्व के भिन्न भिन्न रूप हैं। इस बातको पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।

सूर्य्य की गर्मी विश्व की सारी उष्णता का मूल भण्डार है। उदायन ऋषि की यह बात भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मतानुकूल है।

महर्षि वाचस्पति के मतानुसार उष्मा और प्रकाश की किरणों में अति सूक्ष्म परमाणु समाविष्ट है।

दृष्टिविद्या।

अपारदर्शकता और छाया के तत्व महर्षि उद्योतकर ने भली प्रकार समझाये हैं।

किरणविक्रता (refrection) का तत्व भी उद्योतकर को ज्ञात था।

प्रकाश किरणों के रासायनिक परिणाम जयन्त को ज्ञात थे।

इसके अतिरिक्त सूर्य्य की किरणों को केन्द्रीभूत करने के लिये हमारे आर्य्य लोग कई प्रकार कांचों का उपयोग करते थे। (सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्लिनी का कथन है कि कांच को पॉलिश करने का उद्योग भारत में बडे जोरशोर पर था)।

ध्वनि विज्ञान।

ध्वनि विज्ञान के सम्बन्ध में भी हमारे पूर्व ऋषियों ने, हजारों वर्षों के पहले जो विचार प्रकाशित किये हैं, वे यद्यपि आधुनिक विज्ञान से सोलहों आने मिलते हुए नहीं हैं, पर बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। शंबर स्वामी ध्वनि का मूल और वाहक हवा मानते हैं और उद्योतकर तथा अन्य ऋषि आकाश मानते हैं। ध्वनि-लहरों का ज्ञान भी हमारे आर्य्यों को था।

विज्ञानभिक्षु ने प्रतिध्वनि का विश्लेषण कर उसके परिणाम प्रकट किये हैं जो आधुनिक विज्ञान से कई अंशों में मिलते जुलते हैं।

In England's debt to India वात्स्यायन, उद्योतकर और वाचस्पति ने ध्वनि का उसके स्वरों के अनुसार विश्लेषण किया है।

चुंबकत्व ।

शंकर मिश्र ने चुबकत्व का प्रारम्भिक तत्व प्रकट किया है। अंबर में घांस आदि को आकर्षण करने की शक्ति क्यों है। लोहे की सुई लोहचुम्बक की ओर क्यों आकर्षित होती है, इस बात को प्रकट किया है।

भोज (ईसवी सन् १०५०) ने यह हुक्म दिया था कि जहाजों के पेंदे में लोह नहीं लगाया जावे, क्योंकि इससे संभव है कि किसी चट्टान में रहा हुआ चुंबक उसे आकर्षित करले और इससे चट्टान और जहाज की टक्कर होजावे।

प्रोफेसर मुकर्जी ने अपनी एक सुप्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है कि जब हिन्दू लोग जावा में उपनिवेश बसाने के लिये जहाज में बैठकर जलपर्यटन कर रहे थे, उस समय उनके पास कम्पास था, जो दिशाओं का दिग्दर्शन कराता था। इसे हिन्दू लोग मत्स्ययन्त्र कहते हैं।

विद्युत् ।

जान पड़ता है कि उमास्वति को विद्युत् का प्रारम्भिक ज्ञान था। इनके परमाणुवाद में इस बात का स्पष्टतया उल्लेख है कि दो मिले हुए परमाणुओं में विरोधी गुण होने चाहिये। उनका विश्वास था कि दो प्रकार के विरोधी गुणवाले परमाणु एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और समान गुणवाले परमाणु एक दूसरे से दूर होते हैं।

प्राचीन भारतवासियों के खनिज सम्बन्धी आविष्कार.

भारतवर्ष में, अत्यन्त प्राचीन काल में कई खनिज सम्बन्धी आविष्कार हुए थे। रत्न माणिक्य, सुवर्ण, चांदी आदि अत्यन्त

मूल्यवान् पदार्थों का उपयोग, भारतवर्ष में, हजारों वर्षों से हो रहा है।

रोस्को और Schorlemmer के मतानुसार हिन्दुओं ही ने सब से पहले स्वर्ण का आविष्कार किया था। इन्ही महानुभावों के मतानुसार अशुद्ध लोहे (ore) से शुद्ध लोहा निकालने की तरकीब सब से पहले भारतवासियों ही ने निकाली थी।

सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता बाल (Ball) के मतानुसार मोझिक काल (Mosaic Period) में (जिसका समय ईसवी सन पूर्व १४९१ वर्ष से ५० वर्ष तक गिना जाता है) हिन्दुस्थान में मूल्यवान् जवाहरात का उपयोग होता था।

सब से पहले हिन्दू लोग छः धातुओं से परिचित थे उनके नाम ये हैं—सोना, चांदी, तांबा, लोहा, टिन और सीसा। इसके बाद कोई चौदहवीं सदी के लगभग उन्होंने सातवीं धातु जस्त का भी आविष्कार किया था. युरोप में इस धातु का पता सन् १५४० में लगा था।

हिन्दू लोग जवाहिरात की परीक्षा करना, हजारों वर्षों के पहले जानते थे। इस बात को कई पाश्चात्य विद्वान् मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं और इसके कई ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

प्राचीन भारतवासियों का भूस्तर शास्त्र.

हमारे प्राचीन भारतवासियों ने भूस्तर शास्त्र में भी आश्चर्यकारक उन्नति की थी। जो सिद्धांत, हाल में नयी से नयी वैज्ञानिक खोजों के द्वारा मालूम हो रहे हैं, उनमें से बहुत से सिद्धांत हजारों वर्षों के पहले हमारे प्राचीन भारतवासियों को मालूम थे। इस बातका दिग्दर्शन हम पिछले अध्यायों में करते आरहे हैं। इस लेख में हम यह दिखलाना चाहते हैं कि भूस्तर शास्त्र Geology में हमारे आर्यों ने कहां तक प्रगति की थी? और उनके भूस्तर शास्त्र सम्बन्धी सिद्धांत आधुनिक भूस्तर शास्त्र के सिद्धांतों से कहां तक मिलते हैं।

इस बात का विवेचन करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि भूस्तर शास्त्र में किन बातों का विचार किया जाता है। एक पाश्चिमात्य विद्वान् का कथन है कि इस शास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति का उसकी रचना का, भूपृष्ठ पर होनेवाले अनेक परिवर्तनों का, जीव जन्तुओं की उत्पत्ति का समावेश रहता है। इन्हीं विषयों पर इस शास्त्र में मुख्यता से विचार किया गया है। अब हम तुलनात्मक दृष्टि से इस शास्त्र पर विचार कर यह दिखलाना चाहते हैं कि हजारों वर्षों के पहले इस शास्त्र में हम आर्य लोग कितने आगे बढे हुए थे। सबसे पहले हम

सृष्टि उत्पत्ति

के विषय को लेना चाहते हैं. सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आजकल तेजोमेघ विचार (Nebular hypothesis) ही को

सर्वोच्च पद दिया जाता है। इस सिद्धांत के जनक महामति केन्ट और लाप्लास के मतानुसार किसी समय यह सारा विश्व तप्त वायुरूप में था। उस समय यह वायुरूप विश्व अपने ही चहुंओर चक्र की तरह घूमता था, और इस गति के कारण वह मध्यभाग में शनैः शनैः घनरूप होने लगा। उसी समय बाहरी हिस्से का बंधन टूट जाने से उसमें से अनेक ज्योतिर्गोल टूट कर अलग होगये। ये गोले जैसे २ ठण्डे होते गये, वैसे वैसे ये प्रथम पिघलते गये और पश्चात् काठिन घनरूप होगये। उनका बाह्य-तह तो काठिन होगया और अन्दर का गर्भ उष्णावस्था में रहा। इस प्रकार अन्तरिक्ष में अनेक भूगोलों की उत्पत्ति हुई। हमारी पृथ्वी की भी इसी प्रकार उत्पति हुई। यह है आजकल के वैज्ञानिकों का मत, अब देखिये हमारे भारतवासियों का मत इससे कहांतक मिलता जुलता है।

हिन्दुओं के सुप्रसिद्ध प्राचीनतम ग्रंथ तैतरीय संहिता में सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। उसमें कहा गया है "आपो वै इदमग्रे सलिल मासीत् तास्मिन् प्रजापति र्वायुर्भूत्वा अचरत्.........सा पृथिव्य भवत्। इसका आशय यह है कि प्रथम सब कुछ तरलावस्था में था और उसके आसपास बाष्पीय आवरण था और इसका परिवर्तन होते होते इसका रूपान्तर पृथ्वी में होगया। तैत्तरीय ब्राम्हण ग्रंथ में इससे भी अधिक उपयुक्त और आधुनिक विज्ञान से मिलता जुलता विचार किया गया है। उसमें कहा गया है कि यह पृथ्वी पहले बाष्पीय पदार्थ का ज्वलन्त गोला था (तस्मात्तपनाद्धूमो ऽजायत...........अग्नि रजायत) पश्चात् वह तरल होगया (ससमुद्रो ऽ भवत्)। इसके बाद वह धीरे २ ठंडा होता गया और सिकुडकर घनरूप हो जाने से

पृथ्वी में परिणत होगया (स पृथिव्य भवत्) । इसके बाद उसमें जीवन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और यह पहले पहल कमल के रूप में प्रकट हुई ।

तैत्तरीय उपनिषद् में इसका और भी अच्छा विवेचन है । इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और विकास इस प्रकार दिखलाया है:—

"तस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः ।
वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथि-
व्या औषधयः औषधिभ्योऽन्नम । अन्नात्पुरुषः ।"

इसका आशय यह है कि आरम्भ में केवल मात्र एक सर्व व्यापी आत्मा था, इससे आकाश की उत्पत्ति हुई, और फिर क्रम से आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की, जल से पृथ्वी की, पृथ्वी से औषधियों की, औषधी से अन्न की और अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई । ऐतरेय उपनिषद् के आरम्भ ही में कहा है कि यह सारी सृष्टि पहले एक रूप थी और इसमें जीती जागती एक शक्ति परम आत्मा था । इसके सिवा यह सब उस समय सोया हुआ था, जो अब जगता है। उसकी इच्छा से उस एक रूप से इस भांति भांति के रूप में आया, जो अब हमारे सामने है । अर्थात् चारों लोक आदि सब उस रूप को नानारूप में बदलने से हुए ।"

उपरोक्त तैत्तरीय उपनिषद् के मन्त्र में इस विश्वकी उत्पत्ति क्रम का कितना उत्तम वैज्ञानिक विवरण है ! अर्थात् तैत्तरीय उपनिषद् के मतानुसार पहले पहल अनन्त आकाश था, आकाश से वायुमण्डल उत्पन्न हुआ वायु के प्रबल झोकों से अग्नि की उत्पत्ति हुई, इस अग्नि से वाष्पीय पदार्थ बना और इसके सिकु-

ढने से जल गिरने लगा । इससे पहले गर्म जल के समुद्र की उत्पत्ति हुई । इस महासमुद्र का जल पहले पहल इतना गर्म था कि इसमें कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकते थे । इससे यह पहले जीवविहीन था । इसका जल अत्यन्त कण-मय था । जब इस महासागर का जल ठंडा होगया तब इसमें कमल और अन्य जीव धारियों की उत्पत्ति होने लगी । पर्वत और पृथ्वी भी महासागर से निकले । देखते हैं कि आधुनिक भूस्तर, शास्त्रविदों के मत से हमारे आर्य्यों के उपरोक्त विचार बहुत कुछ मिलते जुलते हैं ।

पहले कौनसे जीवोंकी उत्पत्ति हुई ।

आधुनिक भूस्तर शास्त्र के मतानुसार बहुतही प्राचीन काल में अर्थात् सत्ययुग में पहले पहल मच्छियों का होना पाया जाता है । इसके बाद मेण्डक जातिके प्राणियों की उत्पत्ति हुई । फिर सर्प, सुसरी आदि उरोगामी जन्तुओं की उत्पत्ति हुई । इसके बाद पक्षियों की और फिर पशुओं की उत्पत्ति हुई । सब के पीछे मनुष्य की उत्पत्ति हुई । अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति से सृष्टिके प्राणिओं का क्रम विकास होता गया, और वह मनुष्य तक पहुंचा । मनुष्य के बाद किसी नये जन्तुकी उत्पत्ति नहीं बतलायी जाती है । अमेरिका के सुप्रसिद्ध भूस्तर शास्त्रविद् प्रोफेसर डेना अपनी "Manual of Geology" नामक ग्रन्थ में लिखते हैं:—

"It is not known that any new species of plants or animals have appeared on the earth since the creation of man अर्थात् मनुष्य की उत्पत्ति के बाद पौधे और प्राणियों की किसी जाति का पृथ्वी पर उत्पन्न होना नहीं पाया जाता ।

अब भूस्तर शास्त्रविदों के उपरोक्त मत को हम अपने ऋषियों के विचार–प्रकाश में देखना चाहते हैं। भूस्तर शास्त्रविदों की तरह हमारे ऋषि भी यह मानते हैं कि इस पृथ्वी पर पहले पहल मच्छियों और कूर्मों की उत्पत्ति हुई। विष्णुपुराण में कहा है "अकरोत्स तनुमन्यां कल्पादिषु यथापुरा। मत्स्यकूर्मादिकं तद्वद्वाराहं वपुरा स्थितिः" इसके अतिरिक्त विकास के जिस क्रम को आधुनिक विज्ञानियों ने माना है, करीब २ उसी क्रम को हमारे ऋषियों ने माना है। हमारे ऋषियों ने जिस क्रम से अवतार माने हैं, वह सृष्टि का विकास क्रम ही है।

ईश्वर का प्रथम मत्स्यावतार, जलसृष्टि के विकास का निदर्शक है अर्थात् जलसृष्टि हो जाने पर प्रथम जलजन्तु मत्स्यादि बने। ईश्वर का द्वितीय कच्छपावतार, जल के अनन्तर भूमि के विकास का निदर्शक है। अर्थात् मत्स्यादि जल जन्तुओं की सृष्टि हो जाने पर जल और भूमि पर समान चलनेवाले कच्छपादिक प्राणी बने। ईश्वर का तृतीय वाराहवतार भूमि के पूर्ण विकास का निदर्शक है–अर्थात् बन पर्वत नदी की सृष्टि हो जाने पर पशु, पक्षी बने। ईश्वर का चतुर्थ नृसिंहावतार जल, स्थल जीवजन्तु पशुपक्षी की सृष्टि के पूर्ण विकास का द्योतक है– अर्थात् सब पशुओं के आगे की पूर्ण सृष्टि होजाने पर अर्ध पश्वाकृति मनुष्य बने। ईश्वर का पंचम वामनावतार, अर्ध मानवाकृति वानरादिकों के विकास का निदर्शक है। ईश्वर का छटा परशुरामावतार, चातुर्वर्ण्य-ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि सृष्टि के विकास का निदर्शक है। ईश्वर का सप्तम रामावतार विद्या, शास्त्र, कला, नीति, नियम, क्षमादिकों के पूर्ण विकास का निदर्शक है– अर्थात् राजनीति, प्रजापालन, नियम न्याय, धनार्जन, ब्रम्हचर्य, गृहस्थ,

वानप्रस्थ, सन्यासादि आश्रम धर्म बने, और रहे सहे जंगली राक्षसादि प्रजा का विलय कर के मनुष्यों ने वानरों से मित्रता की। ईश्वर का अष्टम कृष्णावतार पृथ्वीभर के ऐश्वर्यादिकों के परिपूर्ण विकास का निदर्शक है– अर्थात् जन्मारंभ ही से मनुष्य की अद्भुत शक्ति, अपूर्व चमत्कृति, योग चारित्र, प्रभाव अनेक मनोधर्म बने, और मनुष्यों ने सर्वत्र विजय संपादन कर के सर्वोच्च भावना द्वारा षड्गुणैश्वर्य सम्पन्नता प्राप्त कर के सब पर प्रभुता स्थापित की। ईश्वर का नवम बुद्धावतार, यज्ञयागादिक भौतिक क्रियाओं के अघटित विकास का निदर्शक है। अर्थात् यज्ञ यागादिकों का प्रचार होकर बेचारे गरीब पशु परलोक गामी बने। अहिंसा का प्रचार कर के मनुष्यों ने दया धर्म का प्रचार किया। ईश्वर का दशम कल्कि अवतार, वर्णसंकरता, अधर्म, पाप, दुराचार, रोग, मृत्यु आदि के अन्तिम अवैविकास का निदर्शक है अर्थात् मनुष्य मात्र की कालान्तर में जितनी उन्नति हुई है उतनी ही अवनति होकर पृथ्वी का प्रलय होगा।

ऋग्वेद में भी लिखा है कि यह पृथ्वी पहले बाष्पीय अवस्था में थी, फिर तरलावस्था में हुई और जब यह तरलावस्था में थी, तब पानी के तरह हिलोरे खाती थी [पृथिवीं व्यथमानां] और पीछे इन्द्र ने उसे घनावस्था में परिणत की। ऋग्वेद में कहा है:—

य: (इंद्र:) पृथिवीं व्यथमानामदृंहत्
य: पर्वतान्प्रकुपितान् रमणात् ॥

इसका आशय यह है कि घूजती हुई पृथ्वी को इन्द्र ने घनीभूत की। उसने पर्वतों को भी दृढ किये।

ऋग्वेद में सृष्टिक्रम की और भी बहुतसी ऐसी बातें मिलती हैं, जो आजकल के भूस्तर-शास्त्र से बहुत मिलती जुलती हैं। उसमें कहा गया है कि औषधि की उत्पत्ति त्रेतायुग के दूध पीनेवाले जीवों के तीन युग पहले (त्रियुगं) हुई। अर्थात् मनुष्यों और देवों के (देवेभ्यस्त्रियुगंपुरा) तीन युग पहले अर्थात् प्रथम युग में (पूर्वेयुगे) हुई। ऋगवेद का यह मंत्र इस प्रकार है।

" या ओषधीः पूर्वजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा
देवानां पूर्व्येयुगेऽसतः सद जायन "

इसका आशय यह है कि प्राचीन काल में वनस्पतियां देवों के तीन युग पहले उत्पन्न हुई और असत् (Non-existence) से सत् (existence) उत्पन्न हुआ।

अब यह देखना है कि यह बात आधुनिक भूस्तर-शास्त्र के सिद्धान्तों से कहां तक मिलती जुलती है। आधुनिक भूस्तर शास्त्र भी यह मानता है कि पहले पहल वनस्पतियों में जीवन-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद दूसरे युग में रेंगनेवाले जन्तुओं की उत्पत्ति हुई और फिर विकास क्रम के अनुसार दूध पीनेवाले (Mammals) जीवों की उत्पत्ति हुई।

हमारे कहने का आशय यह नहीं है कि आधुनिक भूस्तर शास्त्र के सब सिद्धान्त हमारे आर्य्य ग्रन्थों में मिलते हैं, हम केवल इतनाही कहना चाहते हैं कि आधुनिक भूस्तर शास्त्र के कई सिद्धान्तों का ज्ञान हजारों वर्षों के पहले भी आर्य्य ऋषियों को था।

प्राचीन भारतवासियों का वनस्पति विज्ञान।

हमारे पाठकों को यह बात अवश्य मालूम होगी कि आधुनिक काल में डॉक्टर सर जगदीशचंद्र बोस ने कुछ ऐसे आश्चर्यकारक यन्त्र आविष्कृत किये हैं, जिनसे वैज्ञानिक पद्धति से वनस्पति में जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। आपके Resonant Recorder नामक यन्त्र से पौदों की स्नायविक धडकन स्पष्टतया मालूम होती है। इस यंत्र के द्वारा डॉक्टर बोस ने वनस्पतियों पर कई प्रकार के प्रयोग कर इस बात को खूब अच्छी तरह जान लिया है कि अन्य प्राणियों की तरह वनस्पतियों में भी त्वचा, स्नायु है। इनमें भी आकुञ्चन और प्रसरण, अन्य प्राणियों की तरह होते हैं। तेजाब, एमोनिया की भाफ, गर्म धातुओं का स्पर्श, विद्युत् का धक्का आदि का जैसा प्रभाव मनुष्य की त्वचा और स्नायु पर पडता है, वैसा ही प्रभाव वनस्पति पर भी पडता हुआ दिखाई देता है। इससे डॉक्टर बोस ने यह तत्व निकाला कि वनस्पतियों में भी जीवनशक्ति है और उसमें भी अन्य प्राणियों की तरह बहुतसी क्रियाएं होती हैं। आपके अपने नवाविष्कृत यंत्र क्रेस्कोग्राफ से वनस्पति की जीवन गति का अत्यन्त आश्चर्यकारक वृत्तान्त मालूम होता है। आपके इन आविष्कारों से आधुनिक पाश्चात्य संसार में हलचल सी मच गई है और पाश्चात्य विज्ञानीगण वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने लगे हैं। पर भारतवर्ष में वनस्पति में जीव होने का ज्ञान हजारों वर्षों के पहले से चला आरहा है।

आज भी जैनियों का एक छोटासा बच्चा भी जानता है कि वनस्पति में जीव है और उसे तोड़ना या सताना पाप है। हमें हर्ष है कि डाक्टर बोस ने भी अपने एक व्याख्यान में ये भाव प्रदर्शित किये थे "जीवन के जो महान् तत्व मेरे यन्त्रों के द्वारा प्रकट होरहे हैं, उनका पता इस पुण्यभूमि भारतवर्ष के ऋषियों ने गंगातट पर बैठ कर अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा लगा लिया था।" अब हम अपने आर्ष ग्रन्थों से वनस्पति में जीव और चैतन्य होने के बारे में प्रमाण देते हैं। जहांतक हमारा खयाल है, जैन शास्त्रों में इस विषय पर विस्तृत और गहरा विचार किया गया है। अगर उन सब विचारों को लिखा जावे तो दो सौ पृष्ठों का पोथा भी पर्याप्त न हो। हम अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इस सम्बन्ध में कुछ जैन और कुछ हिन्दू ग्रन्थों के प्रमाण देते हैं।

जैनियों का आचारांग सूत्र नाम का प्राचीन ग्रन्थ है उसमें वनस्पति के लिये इस आशय के वचन कहे गये हैं।

"जन्म लेना और बूढ़ा होना, मनुष्य के लिये प्रकृति-सिद्ध है। वनस्पतियों की भी यही दशा है। जैसे मनुष्यों में चित्त है, वैसे ही वनस्पतियों में भी है। आघात पहुंचाने से जैसे मनुष्य पीड़ित होता है, वैसे ही वनस्पतियां भी होती हैं। जैसे मनुष्य अमर नहीं है वैसेही वनस्पतियां भी नहीं हैं। जैसे मनुष्य छीजता है, वैसे ही ये भी कुम्हलाती हैं, जैसे मनुष्य की वृद्धि होती है, वैसे ही इनकी भी होती है। जैसे मनुष्य में परिवर्तन होता है, वैसे ही इनमें भी होता है, अतएव जो मनुष्य इन्हें दुःख पहुंचाता है वह पाप कर्म से बच नहीं पाता। जो मनुष्य इन्हें तकलीफ नहीं पहुंचाता वह पापकर्म से बच जाता है। सुप्रसिद्ध जैन आचार्य अपने दर्शन समुच्चय की टीका में लिखते हैं:—

" वनस्पतियों में भी बाल्यावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था होती है। उनकी भी वृद्धि होती है। उनमें भी सोना, चलना, फैलना, सिकुड़ना, चोट से दुःख होना स्पर्श से असर होना, भोजन से पुष्टि होना आदि क्रियाएं होती हैं।" उपरोक्त आचार्य्य गुणरत्न ने ऐसी कई वनस्पतियों के नाम दिये हैं, जो सोती हैं और जागती हैं (समीप्रपुन्नाट सिद्धेसर सुन्दवप्पुलाग स्यामलकी कनि प्रभृतीनां स्वापविबोधतः)। इन्हीं आचार्य्य महोदय ने लाजवन्ति पर स्पर्श क्रिया का जो प्रभाव होता है, उसका दिग्दर्शन भी करवाया है " लज्जाळु प्रभृतिनां हस्तादि संसर्गात् यत्र सङ्कोचादिका परिस्फुट क्रिया उपलभ्यते।"

सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ धर्मोत्र की न्यायबिन्दु टीका में वनस्पति में निद्रा, संकोचन और प्रसरण आदि क्रियाओं का उल्लेख किया गया है (स्वापः रात्रौ पत्र सङ्कोचः)

हिन्दू पण्डित उदायन ने भी वनस्पति में केवल जीव के अस्तित्वही का विवेचन नहीं किया है, पर उसने वनस्पति में होनेवाली अनेक क्रियाओं का वर्णन किया है। उसने लिखा है--

" वृक्षादयः प्रतिनियत भोक्त्र्यधिष्ठितः
जीवन मरण स्वप्न जागरण रोग भेषज प्रयोग-
बीज सजातीयानुबन्धान कूलोपगम् प्रतिकूलापगमा-
दिभ्यः प्रसिद्ध शरीरवत्—Udayana पृथ्वी निरूपणम्।

वनस्पति में संज्ञा.

हिन्दू शास्त्रों में या जैन शास्त्रों में स्पष्टतया कहा गया है कि वनस्पतियों में छुपी हुई संज्ञा और चैतन्य है और उनमें

दुःख सुख अनुभव करने की शक्ति है (अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख दुःख समन्विताः)। चक्रपाणि ने कहा है कि वनस्पतियों में संज्ञा और चैतन्य है, पर वह अन्धकार से आच्छादित है (वृक्षास्तु चेतनावन्तोऽपि तमश्छन्नज्ञानतया शास्त्रोपदेशविषयाश्च)। उदायन ने भी कहा है कि वनस्पतियों में चेतना शक्ति और संज्ञा है, पर वह अति मंद और अप्रकट है (अतिमन्दान्तःसंज्ञितया)।

महाभारत में कहा है कि वनस्पतियां संज्ञासहित हैं और उन पर गर्मी और सर्दी का, ध्वनि और गर्जना का और आनंददायक तथा निरानंददायक का प्रभाव पड़ता है। महाभारत में एक श्लोक है, जिसमें उपरोक्त भाव स्पष्टतया दर्शाये गये हैं। वह श्लोक इस प्रकार है—

उष्मतो म्लायते पर्ण त्वक् फलं पुष्प मेवच
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते

वाय्वग्न्य शनि-निर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्मा च्छृण्वन्ति पादपाः

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति नह्यदृष्टश्च
मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः॥

पुण्यापुण्यै स्तथा गन्धै र्धूपश्च विविधैरपि।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः॥

पादैः सलिल पानाच्च व्याधीनाश्चापि दर्शनात्।
व्याधि प्रति क्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे॥

वक्त्रेणो त्पलनालेन यथोर्द्धं जलमाददेत् ।
तथा पवन संयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥

सुखदुःखयोश्च ग्रहणात् छिनस्यच विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणाम चैतन्यं न विद्यते ॥

—शान्तिपर्व महाभारतः ।

प्राचीन भारतवासियों के मतानुसार पृथ्वीका गोलत्व।

हमारे भारतवासियों को बहुतसे आधुनिक भौगोलिक सिद्धान्तो का भी अच्छा ज्ञान था। उन्हें यह मालूम था कि आकाश विज्ञान में यह पृथ्वी फुट-बाल के गोले के समान निराधार प्रचण्ड वेग से घूम रही है। सूर्य सिद्धान्त में कहा है:—

" मध्ये समन्ता दण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
विभ्राणः परमां शक्तिं ब्रम्हणे धारणात्मिकाम् ॥

ब्रम्ह की धारणात्मक परम शक्ति से ब्रम्हाण्ड के मध्य प्रदेश में आकाश में यह भूगोल अवस्थित है। इसमें कुछ भी शंका नहीं है तो भी यह प्रश्न होगा कि जब हमारे एक छोटी सी कंकरी, गेंद या गोली को आकाश में फेंकने पर उसे निराधार ठहरते हुए हम नहीं देखते तो जिस विशाल भूतल पर हिमालय, विन्ध्याद्रि और सह्याद्रि समान बडे २ प्रचण्ड पर्वत विद्यमान् हैं- उसको हम कैसे निराधार मान सकते हैं ? ठीक है! इस प्रश्नका उत्तर ज्योतिर्विज्ञ शिरोमणि श्री भास्कराचार्य देते हैं कि " आकृष्टि शक्तिश्च महीतया यत्स्वस्थं गुरु स्वाभि मुखं स्वशक्त्या। आकृष्यते तत्पततीवभाति समे समन्तात्क पतात्वियं खे।" पृथ्वी में आकर्षकशक्ति है इसी से आकाशस्थगुरु-भारी पदार्थ अपनी ओर खिंच जाता है, अर्थात् वह पदार्थ नीचे गिरतासा जान पडता है

किन्तु पृथ्वी के चारों ओर ऊपर नीचे सर्वत्र आकाश विद्यमान् है इनसे पृथ्वी कहां गिर सकती है ? अर्थात् पृथ्वी के चारों ओर आकाश ऊपर रहता है तो वह आकाश में कैसे गिर सकती है।

इसलिये भास्कराचार्य प्रश्नकर्ताओं से पूछते हैं कि बतलाइये कि पृथ्वी गिरे भी तो किस आकाश में कहां गिरे ? तुम कहोगे कि हमारे नीचे की दिशा में गिरे वैसे ही नीचे के गोलार्द्ध वासी कहेंगे कि हमारी नीचे की दिशा में गिरे तो दिशा तो मस्तक के ऊपर ही होगी। अगल-बगलवाले भी कहेंगे कि हमारे ही नीचे पृथ्वी गिरे तो यह कहां और कैसे गिर सकती है ? प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि अगर आकर्षण शक्ति न होती तो हमारी फेंकी हुई वस्तु फिर नीचे नहीं गिरती, वह फेंकते ही सीधी चली जाती। फिर उसके लौटने का कोई कारण ही न था। इसीका नाम गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) है।

पृथ्वी का आकार गोल है यह आजकल के छोटे २ स्कूली लडके तक भी जानते हैं और वह गोल है इसीलिये उसको भूगोल-भूमंडल कहते हैं। उसकी गोलाई का प्रमाण-क्षितिज, चक्रवाल गोलवृत्त, भूपृष्ठ का गोलाकार दिखाई देना है। हमारे चारों ओर जो पृथ्वी की दिशाओं का गोलवृत्त मालूम होता है ऐसे ये समुद्र सहित पृथ्वी से चालीस लाख गोल होते हैं। पृथ्वी का व्यास आठ हजार मील है और वह बहुत विस्तृत है इसलिये स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः—पृथ्वी के मानदण्ड हिमालयादि बडे २ पर्वत भी उसकी गोलाई में किसी प्रकार बाधा नहीं डाल सकते।

किन्तु बहुधा सभी धर्मों के पवित्र ग्रन्थों में पृथ्वी का आकार चक्की के पाट समान चपटा और गोल माना गया है।

और यह बात ठीक भी तो है । प्रथम हमें जहां तहां उसका चपटा आकार ही दीख पड़ता है और उसकी गोलाई भी चक्की के पाट के समान ही दीख पड़ती है। किन्तु ऐसा नहीं है। ज्योतिर्विद् लल्लाचार्य अपने वृद्धितन्त्र में कहते हैं— "समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्तालनिभा बहूच्छ्रयाः। कथमेव न दृष्टिगोचरं नुरहो यान्ति सुदूर संस्थिताः" लल्ल आचार्य पृथ्वी का चपटा आकार कहनेवालों से पूछते हैं कि यदि पृथ्वी का आकार समान चपटा है तो ताड़ वृक्षों के समान् बड़े २ ऊंचे पेड़ दूर स्थित मनुष्यों को क्यों नहीं दिखाई देते ? वैसेही अगर पृथ्वी गोलाकार न होकर समान चपटी होती तो फिर 'अन्योन्य संसक्त महस्त्रियामम्' दिनरात कहां से होते ? सूर्य का प्रकाश सारे पृथ्वीतल पर समान ही रहता। इसलिये भास्कराचार्य भी अपने गोलाध्याय में प्रश्न करते है कि:—

"यदि समा मुकुरोदर सन्निभा भगवती धरणी तरणिःक्षितेः।
उपरिदूरगतोऽपि परिभ्रमन्किम् नरै रमरैरिव नेक्ष्यते॥
यदि निशाजनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः स न दृश्यते।
उदगयं ननु मे रुरथांशुमान्कथ मुदेति च दक्षिणभागकं॥

अगर पृथ्वी आइने के समान चपटी होती तो उसके ऊपर भ्रमण करनेवाले सूर्य को क्या देवताओं के समान मनुष्य नहीं देख सकते ? अर्थात् जैसे उत्तरी ध्रुव के निकट मेरु पर्वत पर देव छः महीने का दिन देख सकते हैं उसी प्रकार हम भी देख सकते। इस पर कहा जायगा कि देव मेरु पर्वत पर रहते हैं इसलिये उनको वैसा दीख पड़ता है। इस पर भास्कराचार्य दूसरे श्लोक में फिर पूछते हैं कि यदि रात का करनेवाला मेरु कनकाचल है तो उसमें वह क्यों नहीं देख पड़ता ? अर्थात भूमि समान

चपटी है तो इतना ऊंचा पहाड़ क्यों नहीं दिखाई देता? अगर मेरु उत्तर ही की ओर है तो फिर सूर्य का दक्षिण की ओर कैसे उदय होता। अर्थात् सूर्य का उदय सदा उत्तर ही में क्यों नहीं होता। दक्षिण में क्यों उदय होता है। अगर पृथ्वी–मुकुरोदर–सन्निभा आइने के पृष्ठभाग के समान सीधी साफ चपटी होती तो उपर्युक्त बातें अवश्य होतीं। जब वैसा नहीं है तो पृथ्वी का आकार चपटा गोल नहीं है। यह प्रमाणित हो जाने पर भास्कराचार्य अपना सिद्धान्त व्यक्त करते हैं कि–

सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः
कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव॥

अर्थात् चारों ओर पर्वत उपवन ग्राम चैत्यसमूह से घिरा हुआ यह भूगोल धरों से घिरे हुये कदम्ब के फूल के ग्रन्थि के समान है। इस विषय में भास्कराचार्य ने और भी बहुत लिखा है। उनके गोलाध्याय को देखने पर सब ठीक विदित हो सकता है।

पृथ्वी के गोल होने के प्रत्यक्ष भी अनेक प्रमाण विद्यमान हैं अगर पृथ्वी चपटी होती तो सूर्य कोल्हू के बैल के समान चहुं ओर घूमता हुवा नजर आता। हमारे सिरपर से होकर पश्चिम में आकर कभी उसका अस्त नहीं होता वैसे ही परमाणु गोल है जल अग्नि वायु गोल हैं। आकाशस्थ ग्रह गोल हैं, सब ब्रम्हाण्ड गोल है इसी प्रकार पृथ्वी भी गोल है। अब हमारे देखने में पृथ्वी का आकार चपटा क्यों आता है इसका उत्तर भास्कराचार्य देते हैं कि—समो यतः परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्। नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा—प्रत्येक गोल वस्तु की परिधि गोलाई का शतांश सौवां हिस्सा—समान् अर्थात चपटा

रहता है। पृथ्वी का गोला अत्यन्त विस्तृत है और मनुष्य अत्यत लघु है इसीलिये पृथ्वी मनुष्य को चपटी दीख पड़ती है। पृथ्वी के चपटी दीखने का कारण विदित हो जाने पर भी यह बड़ी भारी शंका होती है कि जब पृथ्वी का आकार कदम्ब के फूल के समान है और उसके चारों ओर मनुष्य बसती मानते है तो उन मनुष्यों की बस्ती हमारे नीचे, छत से उल्टे लटके हुवे मनुष्य के समान, होगी अर्थात् उनके पैर ऊपर और सिर नीचे होगा। ऐसी दशा में हमारे नीचे के गोल में रहनेवाले मनुष्य गिरकर नीचे २ क्यों नहीं चले जाते। इस शंका के उठने ही पृथ्वी का आकार गोल मानने में बड़ी ही व्याकुलता होती। इसका समाधान हमारे परम ज्योतिर्विज्ञानविद् भास्कराचार्य ने इतना अच्छा किया है कि हमारी व्याकुलता मिट जाती है।

> यो यत्र तिष्ठत्यवनीं तलस्थामात्मानमस्या उपरि स्थितं च ।
> स मन्यतेऽतः कुचतुर्थ संस्थामिथश्च ते तिर्यगिवा मनन्ति ॥
> अधःशिरस्काः कुदलान्तरस्थाश्छाया मनुष्या इव नीरतीरे ।
> अनाकुलास्तिर्यगधः स्थिताश्च तिष्ठंति ते तत्रवयं यथा च ॥

हरएक भारतीय सज्जन का परम कर्तव्य है कि वह अपने हृदय से, प्रेमपूर्वक, कृतज्ञ होके, हमारे परम पूज्य श्री भास्कराचार्य को—मुक्तकण्ठ से धन्यवाद प्रदान करे—कि जिन्होंने आज आठ सौ वर्ष पहले ही किस युक्ति के साथ पृथ्वी की गोलाई के विषय में प्रतिपादन किया है और किस आश्चर्यपूर्ण उक्ति से तुम्हारी शंका का समाधान तुम्हारे ही सिर डाला है।

भारतवासियों की समुद्रयात्रा और प्राचीन व्यापार.

हमारे प्राचीन भारतवासियों ने जिस प्रकार ज्ञान की विविध शाखाओं में अपनी अलौकिक प्रतिभा, अगाध कल्पनाशक्ति और अपूर्व मौलिकता का परिचय दिया था, वैसे ही उन्होंने व्यापार में भी अनुपम साहस, अकल्पित बुद्धि चातुर्य और विशेषता का परिचय दिया था, उन्होंने जिस प्रकार अपने अलौकिक और दिव्य ज्ञान के प्रकाश से अखिल संसार को आलोकमय किया था, और मानवजाति के लिये आत्मिक आविष्करण के मार्ग में दिव्य ज्योति प्रकट की थी, वैसे ही उन्होंने अपने व्यापार का प्रभाव सारे संसार में फैलाया था। हमारी आर्य जाति ने अपने अध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश से तो संसार को आलोकित किया ही था, पर व्यापार, विज्ञान, कला कौशल्य आदि सांसारिक कार्यों में भी उन्होंने अपना श्रेष्ठत्व और बुद्धि चातुर्य प्रदर्शित किया था। जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन आर्य केवल वेदान्ती थे, अकर्मण्य थे, संसार से उदासीन रहते थे, लौकिक उन्नति के विमुख थे, वे हमारे इतिहास को नहीं जानते। वे यह नहीं जानते कि हमारे आर्य्यों ने लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में बड़ी सफलता प्राप्त की थी। हमारा सामाजिक सङ्गठन ही कुछ इस प्रकार का रखा गया है जिसमें इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति के लिये स्थान

है। हमने पिछले अध्यायों में यह दिखलाया है कि हमारे प्राचीन भारतवासियों ने आध्यात्मिक उन्नति के साथ साथ विज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं में, शिक्षा में और राजनीति में कितनी पारङ्गता प्राप्त की थी। आज हम इस लेख में, यह दिखलाना चाहते हैं कि हमारे प्राचीन भारतवासी व्यापार में भी कैसे बढ़ेचढ़े थे। उन्होंने सारे संसार में किस प्रकार अपना व्यापारिक साम्राज्य फैला रखा था और संसार के भिन्न २ देशों के साथ उनका किस प्रकार व्यापारिक सम्बन्ध था। वे व्यापार के लिये तथा अन्य कामों के लिये कितनी २ लंबी समुद्र यात्रा करते थे।

जब हम अपने प्राचीन ग्रन्थों की ओर दृष्टि डालते हैं तब हमें ऐसे कई श्लोक मिलते हैं, जिनमें हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उल्लेख पाये जाते हैं। हमें कई जगह उन समुद्र यात्राओं के उल्लेख मिलते हैं जो व्यापार के लिये की गई थीं। सुप्रसिद्ध डॉक्टर ब्यूलर (Buhler) ने ऋग्वेद के कई मन्त्र उद्धृत कर यह दिखलाने की सफल चेष्टा की है कि उस समय भी आर्य लोग व्यापार के तथा अन्य कामों के लिये किस २ प्रकार दूर देशों में जाते थे और अन्य राष्ट्रों से अपना व्यापारिक तथा अन्य सम्बन्ध जोड़ते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में वरुण के लिये समुद्रपथ का ज्ञान आवश्यक बतलाया गया है। एक दूसरे मन्त्र में (१।४८।३) में उन व्यापारियों का जिक्र किया गया है, जो लोभवश अपनी जहाजों को अन्य देशों में भेजते थे। तीसरे मन्त्र में उन व्यापारियों का वृत्तांत है, जिनका कार्य्यक्षेत्र असीम था और जो समुद्र के हरएक देश में लाभ के लिये जाते थे। चौथे मन्त्र में वासिष्ठ और वरुण की समुद्रयात्रा का वर्णन है। पांचवे मन्त्र में एक सामुद्रिक चढ़ाई का वर्णन है। इसमें एक राज ऋषि तुग्रने अपने पुत्र भूज्यु

को बहुत दूर के देशों में अपने शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने को भेजा था।*

हमारे सूत्रग्रन्थों में ऐसे कई उल्लेख आये हैं, जिनसे समुद्र पार के देशों से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध प्रतीत होता है। सुप्रसिद्ध जर्मन पण्डित डाक्टर ब्युलर (Buhler) ने बौद्धायन धर्मसूत्र का हवाला देकर यह सिद्ध किया है कि सूत्रकाल में भारतवासियों का पश्चिमीय एशिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। उसने धर्मसूत्र के आधार से उस कर का भी उल्लेख किया है, जो जहाजों के मालिकों से राजा लोग लेते थे। कई स्मृतियों में भी भारत के समुद्रीय व्यापार के उल्लेख पाये जाते हैं। मनु-स्मृति में एक जगह कहा गया है कि अगर मल्लाहों की भूल से प्रवासियों के माल को नुकसान पहुंचे तो उस नुकसान की जिम्मेदारी उन सब मल्लाहों पर होगी और प्रत्येक मल्लाह को अपने २ हिस्से का नुकसान देना होगा। अगर किसी दैवी घटना के कारण ऐसा हुआ होगा तो मल्लाह उस नुकसान के जिम्मेदार न होंगे। मनु ने व्यापार चलाने के लिये एक जाति विशेष की योजना की है। उस जाति के लोगों के लिये विदेशों की व्यापारिक आवश्यकताओं को, उनकी लिपि को तथा पैदावार को जानना मनुने आवश्यक बतलाया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में एक श्लोक में हिन्दुओं की व्यापारिक समुद्रयात्रा का उल्लेख आया है।

---

* वे पांच मन्त्र इस प्रकार हैं:—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः (१-२५-७)

[illegible] उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।

ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः॥ (१-४८-३)

पुराणों में भी ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि पौराणिक काल में भारतवासी व्यापार के लिये समुद्रयात्रा करते थे। वराह पुराण में गोकर्ण नामक एक पुत्रहीन महाजन का व्यापार के लिये समुद्रयात्रा करने का वर्णन आया है। कहा गया है कि इस गोकर्ण का जहाज तूफान में पड़कर नष्ट भ्रष्ट होगया। इसी पुराण में एक व्यापारी का उल्लेख है, जो मोतियों की खोज में कुछ जानकार लोगों के साथ समुद्रयात्रा पर निकलता है। मार्कण्डेय पुराण में भी समुद्रयात्रा के कई उल्लेख आये हैं।

कालिदास के शकुन्तला नाटक में धनवृद्धि नामक एक व्यापारी का उल्लेख आया है, जोकि समुद्र में मर गया था। इस के अतिरिक्त शकुन्तला नाटक में चीन देश का विवेचन है और उसे रेशम की भूमि बतलाया है। सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक रत्नावली में सिलोन के राजा विक्रमबाहु की राजकुमारी का जिक्र आया है कि यह जहाज टूट जाने से समुद्र के मध्य में डूबने थी कि कौशम्बि नगर के कुछ व्यापारी उसे उठाकर ले आये। महा कवि दण्डि के शिशुपाल वध में रत्नोद्भव नामक एक व्यापारी का वर्णन है जिसने एक टापू में जाकर वहां एक कन्या से विवाह किया था। शिशुपाल वध में लिखा है कि जब श्रीकृष्ण द्वारका से हस्तिनापुर को जा रहे थे, तब उन्होंने कई व्यापारियों को जहाजों में विदेशों से आते हुये देखा। इनकी जहाजें व्यापारिक सामान से लदी हुई थीं। कथासरित्सागर नामक ग्रन्थ में हिन्दुओं का विदेशियों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध दिखलाया गया है। इस प्रकार क्या वेदों में, क्या सूत्र ग्रन्थों में और क्या पुराणों में सब ही जगह भारतीयों की समुद्रयात्रा का और विदेशों से उनके व्यापारिक सम्बन्ध का पता चलता है।

हिन्दू ग्रन्थों की तरह बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भी भारतवासियों के समुद्र यात्रा और उनके वैदेशिक व्यापारिक सम्बन्ध के उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध धर्म की जातक कथाओं में कई जगह इसके उल्लेख हैं। एक बौद्ध कथा है जिसका आशय यह है कि बंगाल के राजा सिंहबाहु ने अपने पुत्र विजय को प्रजापर जुल्म करने के अपराध पर सातसौ अनुयायिओं सहित देश निकाले का दण्ड दिया। राजकुमार और उसके साथी एक जहाज में बैठाये गये और उनकी स्त्रियां किसी दूसरे जहाज में सवार करवायी गयीं। जहाजें रवाना हुई और वे सुपरा बंदर पर, जोकि डॉक्टर बर्गेस (Burgess) के मतानुसार आधुनिक बेसिन के पास है गुजरे। इसके बाद वह सिलोन द्वीप पहुंचे और वहां अपने साथियों सहित उतरा। विजय ने वहां पंड्या राजा की राजकुमारी के साथ विवाह किया। सातसौ साथियों ने भी अपना विवाह वहां कर लिया। जिन जहाजों पर ये रवाना किये गये थे वे बड़ी २ जहाजें थीं। इसी प्रकार इसी कथा में आगे चलकर विजय के भतीजे के समुद्र पर्यटन का और सिलोन में उसके राज्यगद्दी ग्रहण करने का उल्लेख है।

एक दूसरी कथा में समुद्रीय व्यापार का उल्लेख है। इसमें सुना नामक एक व्यापारी की समुद्र यात्रा और उसके वैदेशिक व्यापार का उल्लेख आया है। इसका दूर २ के विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। जिस जहाज में यह समुद्र यात्रा करता था उसमें तीन सौ मुसाफिर सुभीतापूर्वक यात्रा कर सकते थे। तपुसा और पालिकट नामक दो बर्मी व्यापारियों का भी इसमें विवरण है। कहा जाता है कि इनके पास भी इतनी बड़ी २ जहाजें थीं, कि जिनमें पांच पांच सौ गाड़ियों का सामान समा सकता था। एक कथा में पूर्ण नामक एक हिन्दू व्यापारी का

कथन आया है। इसने व्यापार के लिये छः वक्त बड़ी बड़ी समुद्र यात्राएं की थीं। इसके साथ यात्रा में श्रावस्ती नगर के कुछ बौद्ध लोग भी थे। इनका इस पर इतना असर हुआ कि इसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। बौद्ध धर्म के संयुक्त निकाय ग्रन्थ में छः छः मास की समुद्र यात्राओं के उल्लेख हैं। दिघा-निकाय ग्रन्थ में लिखा है कि समुद्र यात्रा करते समय अकसर लोग एक जाति के पक्षी को अपने साथ ले जाया करते थे। जब प्रबल वायु के कारण जहाज जमीन से दूर चली जाती थी और जब रास्ता न जान पड़ता था, तब ये पक्षी* छोड़े जाते थे और ये उड़कर इस बात का पता लगाते थे कि किस बाजू को जमीन नजदीक है। Baveru-jataka कथा में बेबीलोन और हिन्दुस्थान के बीच व्यापारिक सम्बन्ध का दिग्दर्शन मिलता है। सुपर्कजातक कथा में सात सौ व्यापारियों के एक साथ समुद्र-यात्रा करने का वर्णन है। संख जातक कथा में एक ब्राम्हण का स्वर्ण की खोज में समुद्र यात्रा करने का उल्लेख है। इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों से भी यह पता चलता है कि हमारा विदेशों के साथ कितना व्यापार बढ़ा हुआ था और इसके लिये लोग बड़ी लंबी २ समुद्र यात्राएं करते थे।

विदेशी ग्रन्थों के प्रमाण।

जब हमारे ग्रन्थों में हमारे वैदेशिक व्यापार के और समुद्र यात्राओं के उल्लेख मिलते हैं, तब यह भी जरूरी है कि विदेशियों के लिखे हुए ग्रन्थों में भी हमारे वैदेशिक व्यापार के उल्लेख मिलें।

---

* आजकल विलायत में सधे हुए कबूतरों से युद्ध आदि के मौकों पर बड़े आश्चर्यकारक काम लिये जाते हैं। सन्देसे तक इनसे पहुंचाये जाते थे।

जांच करने से पता चला कि विदेशियों के कई ग्रन्थों में हमा विशाल व्यापार के, हमारे अतुलनीय वैभव के, हमारे बड़े उद्योगधन्धों के उल्लेख मिलते हैं। इन ग्रन्थों से यह भी पता चलत है कि पूरे तीन हजार वर्ष तक भारतवर्ष व्यापारिक संसार क शिरोमणि रहा। फिनोसिन्यस ज्यू, असेरियन, ग्रीक, इजिप्यनस और रोमन लोगों के साथ इसका व्यापारिक सम्बन्ध था। भारत से कईप्रकार का तैयार और पक्का माल इन देशों को जाता था। बढ़िया २ रेशमी कपड़े, ऊन अत्यन्त बारीक और मुलायम मलमलें, तरह २ के बढ़िया सुगन्धित तैल, शक्कर की कई चीजें, औषधियां, रंग, पिपरमेन्ट, दालचीनी, सलमेसितारे के कसीदे के कपड़े आदि कई पदार्थ यहां से युरोप को जाते थे। इन चीजों की वहां बड़ी कदर होती थी। लोग बड़े चाव से इन्हें खरीदते थे। विदेशों से भी कई चीजें यहां आती थीं।

मतलब यह कि शताब्दियों तक हिन्दुस्थान व्यापारिक राष्ट्रों का शिरोमणि रहा। आजकल युरोप जिस प्रकार विलास की सामग्रियों से संसार को भर रहा है, वैसे पहले भारत भरता था। यहां से नयी २ फेशन की चीजें बनकर विदेशों को जाती थीं और इस तरह हमारा भारतवर्ष खूब मालामाल होता था। व्यापार का पलड़ा हमेशा हमारे पक्ष में रहता था। अर्थात् हमारे यहां से विदेशों में जो चीजें जाती थीं, उन सब का इकट्ठा मूल्य वहां से आनेवाली चीजों से ज्यादा रहता था। इस balance को विदेशी राष्ट्र मूल्यवान् धातुएं भेजकर पूरा करते थे। हिन्दुस्थान बढ़िया बढ़िया पक्का माल तैयार कर भेजता था और उनके बदले में सोना चांदी आदि मूल्यवान् धातु या हीरे, माणिक, रत्न वगैरे जवाहिरात पाता था। इस तरह एक समय हिन्दुस्थान रत्नों की

खानसा हो गया था। यहां की सम्पत्ति अनुलनीय हो गई थी। यहां जितना जवाहरात कहीं न था।

अनेक प्रमाणों का अन्वेषण कर डाक्टर साइस ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ईसवी सन के तीन हजार वर्ष पहले हिन्दुस्थान और असीरिया में व्यापार चलता था। प्राचीन बेबिलोनी शब्द संग्रह में 'सिंधु' शब्द एक प्रकार की मलमल के लिये व्यवहृत किया गया है। नेबूचेडनेझार नामक सुप्रसिद्ध बेबिलोनियन राजा के महल में केवल हिंदुस्थान में मिलनेवाले लकड के बने हुए तख्ते मिले थे, ऐसा एक शोधक ने पता चलाया है। ईसवी सन के पूर्व पांचवीं सदी में ग्रीक में चांवल, मयूर, चंदन आदि पदार्थ हिन्दुस्थानी नामों ही से पहचाने जाते थे। जेक्सन साहब ने बंबई के गेझेटियर में सिद्ध किया है कि भडौंच, सुपारा बन्दर और बेबिलोनिया के बीच ईसवी सन् सात सौ, आठ सौ वर्ष पहले भी व्यापार होता था। ईजिप्त और हिन्दुस्थान में तो इससे भी पहले व्यापार चलता था, यह बात हिरोडोटस आदि ग्रीक ग्रंथों पर से भी पायी जाती है। अमेरिका के येल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मि. डे ने "History of commerce" नामक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसमें आपने दिखलाया है कि ईसवी सन पूर्व २५०० वर्ष में हिन्दुस्थान और चीन के बीच व्यापार चलता था। सुप्रसिद्ध जर्मन पंडित Van Bohlen ने बड़ी खोज और अध्ययन के बाद यह नतीजा निकाला है कि हिन्दुस्थान और अरब के बीच मनुष्य जाति के बाल्यकाल ही से व्यापार सम्बन्ध शुरू था। प्रोफेसर व्ही. बाल अपने "A Geologist's contribution to the History of ancient India" में यह सिद्ध किया है कि ईसवी सन् पूर्व

पन्द्रहवीं सदी मे हिन्दुस्थान संसार में वैभव और सम्पत्ति में सर्व शिरोमणि था। यहां मूल्यवान रत्नों का अगाध भण्डार था. और इसका दूर २ देशों मे अव्याहत व्यापार होता था। प्रो० विल्कि-सन ने अपने Ancient Egyptians नामक ग्रन्थ में लिखा है—इजिप्त के हजार वर्ष के मकबरों में हिन्दुस्थानी नील और अन्य कुछ भारतीय चीजें मिलती हैं। इससे हिन्दुस्थान और इजिप्त का अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध ज्ञात होता है।

मि. मेक्क्रिडल (Mecrindles) ने अपने Ancient India as described in classical literature " में हीरा-डोटस का वृत्तांत लिखा है। इसमें हिराडोटस् ने हिन्दुस्थान के विषय में जो कुछ कहा है, उसका भी कुछ विवेचन है। उक्त ग्रन्थ में हिराडोटस् के भारत के सम्बन्ध में जो वाक्य उद्धृत किये हैं, उनमें कुछ का सारांश यह है:—

बेबिलोन लोग हिन्दुस्थान से जवाहिरात और कुत्ते प्राप्त करते थे। हिन्दुस्थानी पर्सिया के राजा दारा को जो नजराना देते थे, वह स्वर्ण के रूप में देते थे। यह स्वर्ण कोई १२९०,००० पौंड मूल्य का होता था। हिराडोटस् ने हिन्दुस्थान को सोने से माला माल बतलाया है। प्रोफेसर बॉल ने भी हिन्दुस्थान के अटूट स्वर्ण सम्पत्ति के अस्तित्व को स्वीकार किया है। ग्रीक भाषा में हिन्दुस्थान पर ctesias' India नामक ग्रन्थ है । यह ईसवी सन् पूर्व ४०० के लिखा गया। इसमें लेखक ने कपूर शब्द के लिये Karpion कारपियॉन शब्द व्यवहृत किया है । यह शब्द संस्कृत शब्द करपाऊं का भ्रष्टरूप है । इस प्रकार उक्त ग्रन्थ में और भी कुछ ऐसी बातें मिलती हैं, जिससे भारत और ग्रीस का प्राचीन सम्बन्ध सिद्ध होता है।

जैनियों के सूत्रों में ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं जिनसे भारतीय व्यापारियों का अनार्य्य देशों में गमन और व्यापार करना सिद्ध होता है। जैन ग्रन्थों में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं, जिनमें कई बड़े २ सेठों की दूर दूर देशों की समुद्र-यात्रा और व्यापार का उल्लेख है। जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर खुद भगवान् महावीर स्वामी के अनार्य्य देश में जाने का और वहां जैन धर्म प्रचार करने का विवरण है।

आगे चलकर सम्राट् अशोक के समय में भी भारतवर्ष का विदेशों के साथ बहुत कुछ सम्बन्ध था। खुद सम्राट् अशोक का सिरिया, इजिप्त, मेक्सिडोनिया, एप्रिस आदि कई विदेशी देशों के राजाओं के साथ सम्बन्ध था। हिन्दुस्थान से कई व्यापारी व्यापार के अर्थ विदेश जाते थे। कई धर्माचार्य संसार को विश्व-व्यापी प्रेम और मानवी बंधुत्व का दिव्य संदेशा सुनाने के लिये देश देशान्तरों में घूमते थे। इनमें अधिकांशरूप से बौद्ध भिक्षुक रहते थे। इस समय हिन्दुस्थान का सम्मान और गौरव खूब बढ़ा हुआ था। यह आत्मविद्या और व्यापार का केंद्रस्थान समझा जाता था। काश्मीर के पण्डित क्षेमेन्द्र ने "बौद्धकल्पलता" नामक ग्रन्थ लिखा है। यह पण्डित दसवीं सदी में हुआ था। इसमें कहा गया है कि हिन्दुस्थान की विदेशों के साथ बड़ी भारी व्यापारिक गति विधि थी। इसी ग्रन्थ में लिखा है कि एक समय सम्राट् अशोक सिंहासन पर बिराजे हुए न्यायालय में इन्साफ कर रहे थे कि विदेशों में व्यापार करनेवाले कुछ व्यापारी सम्राट् के पास आये और फिर्याद की कि "महाराजा हमें समुद्र के चोरों ने लूट लिया है और हमारे जहाज नष्ट भ्रष्ट कर दिये हैं। अगर आप हमारा इन्साफ न करेंगे और इस मामले में उदासीन रहेंगे तो हम दूसरे उपायों से अपना निर्वाह कर लेंगे, पर सामु

द्रिक व्यापार बन्द होजाने से आपका खजाना खाली हो जायगा " इसपर अशोक ने घोषणापत्र निकाला और समुद्र के डाकुवों को लूटमारा बन्द कर देने का कड़ा आदेश किया। अशोक ने लूटे हुवे माल को मंगवाकर उन व्यापारियों में बांट दिया, जो लूटे गये थे।

अशोक के बाद अंध्र और कुशन (Kushan) काल में भी हिन्दुस्थान का वैदेशिक सम्बन्ध बहुत बढा हुआ था। इस वक्त भी हिन्दुस्थान का विदेशों के साथ अव्याहत व्यापार शुरू था। यह बात उस जमाने के ग्रीक, रोमन और अन्य विदेशीय लेखकों के लेखों से तो ज्ञात होती ही है, पर इसके लिये कई मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण भी हैं। अंध्रकाल का समय ईसवी सन् पूर्व २०० वर्ष से लगाकर ईसवी सन २५० वर्ष तक है। दक्षिण हिन्दुस्थान के प्रमाणभूत इतिहासज्ञ मि. आर सेवेल (R. Sewell) लिखते हैं। " अन्ध्रयुग अत्यन्त समृद्धिशाली युग था। इस समय जमीन और समुद्र का व्यापार बेहद बढा हुआ था और भारत का पश्चिमीय एशिया, ग्रीस, रोम, मिश्र, चीना और अन्य पौर्वात्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। सिरिया देश में युद्ध के समय हिन्दुस्थानी हाथियों से बडा काम लिया जाता था। प्लिनी (Pliny) नामक इतिहास लेखक लिखता है कि रोम से भी हिन्दुस्थान में कई प्रकार के धात्विक द्रव्य आते थे। रोमन सिक्के हिन्दुस्थान के दक्षिण में कसरत से मिलते हैं। ईसवी सन् ६८ में कुछ यहूदी रोमन लोगों के अत्याचारों के भय से हिन्दुस्थान में आये थे और दक्षिण हिन्दुस्थान के समुद्रतटवर्ती लोगों बड़े मैत्रीभाव से उन्हें आश्रय दिया था। फिर ये लोग मलबार बस गये थे।" अन्ध युग के लिये डॉक्टर भाण्डाकर भी

" Trade and commerce must have been in a flourishing condition during this early period " अर्थात् इस युग में (अन्ध्रयुग में) व्यवसाय और व्यापार उन्नत अवस्था में होना चाहिये।

हम ऊपर दर्शा चुके हैं कि इस काल में दक्षिण में अन्ध्र लोगों का राज्य था, और उत्तर में कुशान लोगों (Kushan) का। जिस प्रकार इस समय दक्षिण हिन्दुस्थान का विदेशों के साथ अव्याहत सम्बन्ध था, वैसा ही या कुछ कम उत्तर हिन्दुस्थन का भी था। एक पाश्चात्य इतिहासज्ञ के मतानुसार रोम से ढेरका-ढेर सोना यहां आता था और इसके बदले में, रेशम के बढ़िया २ वस्त्र, जवाहरात और कई प्रकार की धातु की बनी हुई चीजें वहां जाती थी।

उस जमाने के मुद्रासम्बन्धी प्रमाणों से (Numismatic evidences) भी इस बात का पता चलता है कि हमारा व्यापार पाश्चात्य देशों के साथ बहुत बढ़ा हुआ था। इन सिक्कों के प्रमाणों से यह भी पता लगता है कि उत्तर हिन्दुस्थान से दक्षिण हिन्दुस्थान में यह व्यापारिक गति विधि (activity) अधिक थी। क्योंकि दक्षिण हिन्दुस्थान के मदुरा (Madura) जिले में रोमन सिक्के जितनी अधिक संख्या में पाये जाते हैं, उतने उत्तर हिंदुस्थान में नहीं पाये जाते। इसके अतिरिक्त खास बाइबल में में कई तामिल भाषा के शब्द मिलते हैं। इस काल में प्रधान रूप से ग्रीक और रोम के साथ हमारा विशेष सम्बन्ध था। ग्रीक भाषा में चांवल को Oriza कहते हैं, यह तामिल भाषा का भ्रष्ट रूप है। तामिल भाषा में चावल को arisi कहते हैं। इस प्रकार के ग्रीक भाषा में पदार्थों के कुछ ऐसे नाम मिलते हैं, जो

उन्हीं पदार्थों के तामिल नामों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। जान पडता है ये पदार्थ हिन्दुस्थान से ग्रीस को जाते थे और ग्रीक लोगों ने इनके नाम कुछ परिवर्तन के साथ ज्यों के त्यों रख दिये। यवन शब्द हमारे यहां विदेशियों के लिये काम में लाया जाता है। यह ग्रीक शब्द Iaones (यावनस) से निकला हुआ जान पडता है। यह शब्द ग्रीक भाषा में ग्रीक लोगों ही के लिये व्यवहृत होता है।

रोम सम्राट् आगस्टस से लगाकर सम्राट् निरो तक भारतवर्ष का और पाश्चात्य देशों का व्यापार बडी ही उन्नत अवस्था में रहा। धनिक रोमन लोगों में हिन्दुस्थान की बनी हुई विलास सामग्री के प्रति रुचि बढने लगी। यह रुचि इतनी बढी कि इससे उस वक्त कई विचारवान् लोगों को यह डर होने लगा कि रोम दिवालिया न होजावे। प्लीनी नामक ग्रंथकार जो ईसवी सन् ७७ में हुआ। इस बात पर रोता है कि रोमन लोग फजूल खर्च और विलास प्रिय होते जाते हैं। वे इतर आदि सुगन्धित द्रव्यों में तथा बढिया वस्त्र और जेवर आदि में अनापशनाप खर्च करते हैं और कोई साल ऐसा नहीं जाता जिसमें हिन्दुस्थान रोम से करोडों रुपया न खींचता हो। मॉमसेन अपने "Provinces of the Roman empire में लिखता है कि हिन्दुस्थान से रोम को प्रतिसाल ४०००००० पौंड की विलास सामग्री आती थी। हिन्दुस्थान से प्रधानतया इतर अन्य सुगन्धित द्रव्य, हीरे, माणिक मोती, रेशमी वस्त्र, बढिया मलमलें, आदि जाती थीं। इनके अतिरिक्त रोम में अदरक की भी बडी मांग थी। प्लीनी लिखता है कि यह सोने और चांदी की तरह तोलकर बेचा जाता था। मि: विन्सेंट स्मिथ अपने दक्षिण भारत और रोम के बीच में होनेवाले व्यापार के लिये लिखते हैं—

"तामिल भूमि का यह सौभाग्य है कि वह तीन ऐसी मूल्यवान् चीजों को उत्पन्न करती है, जो अन्य जगह अप्राप्य हैं। वे चीजे हैं—कालीमिर्च, मोती और फिरोजा कालीमिर्च युरोप के बाजारों में बड़े मूल्य से बिकती है। दक्षिण भारत में मोती निकालने का उद्योग आज की तरह हजारों वर्षों से बड़ी सफलता के साथ चलता आरहा है। Coimbatore जिले के पैडियुर ग्राम में फिरोजा की जो खान है, केवल इसी से प्राचीन संसार फिरोजे प्राप्त करता था। प्लीनी ने भारतवर्ष को जवाहरात का केन्द्रस्थान कहा है।

इसके अलावा और भी कई प्रमाण मिलते हैं, जिनसे हमारे वैदेशिक व्यापार की विशालता प्रकट होती है। आठवीं सदी में दो हिन्दुस्थानी जापान गये थे और वहां उन्होंने कपास की खेती का काम शुरू किया था। इस बात का उल्लेख जापान के सरकारी दफ्तर में मिलता है। मतलब यह कि मुसलमानों की बादशाहत शुरू होने तक हमारा विदेशों के साथ अव्याहत व्यापार शुरू था। मुसलमानी जमाने में भी हिन्दुस्थान के पास बड़े २ जहाज थे। आइने अकबरी में मुगलों के जहाजी बेड़े का मनोरंजक वर्णन आया है। मुगल जमाने में भी हमारा विदेशों के साथ कुछ न व्यापारिक सम्बन्ध रहा है।"

मतलब यह कि प्राचीन काल में आध्यात्मिक और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से जिस प्रकार भारतवर्ष संसार का शिरोमणि देश रहा है, वैसे ही उस वक्त उसका व्यापारिक वैभव सारे संसार में फैला हुआ था। और यह संसार का सर्वोत्कृष्ट समृद्धिशाली देश समझा जाता था।

गायनकला.

कौन ऐसा ऊसर हृदय* होगा, जिसपर गायन का असर न होता हो ! गायन से मनुष्य मुग्ध हो जाता है और क्षणभर के लिये वह संसार के सब दुःखों को भूलकर अखण्ड आनंद के सरोवर में तल्लीन हो जाता है। मनुष्य तो क्या, पर पशु पक्षियों तक पर मधुर और सुरेले गायन का प्रभाव पडता है। गायन का मनुष्य पर स्वभावतया ही उदात्त परिणाम होता है। महा कवि शेक्सपियर का कथन है—

The man that hath no music in himself, nor is not moved with concord of sweet sounds is fit for treason, stratagems and spoils."

अर्थात् जिस मनुष्य में गायन की भावना नहीं है, जो मधुर स्वर से गद् गद् नहीं हो जाता है, उसका वह अन्तःकरण दुर्वासना, कुकल्पना और अत्यन्त नीच विचारों से भरा हुआ होना चाहिये। संगीत पारिजात में कहा है:—

दोलायां शायितो बालो रुदन्नास्ते यदा कचित्।
तदा गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ॥ १ ॥

* Music hath charms to soothe the savage beast, To soften rocks or bend a knotted oak.

—*An English Poet.*

क्रुद्धो विषं वमन्सर्पः फणामान्दोलयन्मुहुः ।
गानं जांगलिका च्छ्रुत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ॥ २ ॥

मृगःसोऽपि तृणाहारो विचरन्नटवीं सदा ।
लुब्धकादपि संगीतं श्रुत्वा प्राणान्प्रयच्छति ॥ ३ ॥

अर्थात् पालने में रोता हुवा बालक भी गायनामृत पीकर अपना रोना बन्द कर देता है, और उसे अत्यानन्द होता है। क्रोधाग्नि से फूंकार फेकता हुआ विषैला सर्प भी कालबेलिया की बंसरी के नाद लुब्ध होकर बड़े प्रेम से अपने फन को इधर उधर डोलाने लगता है। इसी प्रकार घास खाकर उपजीविका करनेवाले मृग भी व्याध का नड़ाद सुनकर अपने प्राणों को अर्पण कर देते है।

कहा गया है कि "गायनं पंचमो वेदः" अर्थात् गायन यह पांचवा वेद है, इसी से गायन को गंधर्व वेद भी कहा है। इस बात से इस गायनकला का महत्व प्रतीत होता है। हम लोगों में आख्यायिका है कि गायनकला गंधर्व से प्राप्त हुई है।

गायन का प्रेम भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल* से है। वेद काल में हमारे ऋषि बडे प्रेम से वेदों की ऋचाएं और मंत्र गागाकर देवों की स्तुति करते थे।

---

* In this country music was studied and cultivated both as science and art, from the Vedic period up-wards of 3,000 years ago. Music had at the Vedic times attained the dignity of a science, just as other branches of hnman knowledge had.

—*Hindu Music a the Gayan Samaj Madras. 1881.*

" सामिनो गायंति " " गाथिनो गायंति " आदि कई पद ऋग्वेद में पाये जाते हैं । इस से यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद के समय में भी हमारे यहां गायनकला का बड़ा शौक था ।

रामायण काल में भी गायन के शौक के उल्लेख पाये जाते हैं । वाल्मीकि रामायण के सुन्दर काण्ड में लिखा है:—

नृत्यवादित्र कुशला राक्षसेन्द्र भुजांकगा ।
काचिद्वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता संप्रकाशते ॥ १ ॥

पटहं चारु सर्वांगी न्यस्त शेते शुभस्वर्ना ।
विपंची परिगृह्यान्या नियता नृत्यशालिनी ॥ २ ॥

उपरोक्त श्लोक से यह मालूम होता है कि रावण नृत्य, गायन और वादन आदि के आनन्द में निमग्न रहता था ।

यह तो हुई वैदिक और रामायण काल की बात । अब ऐतिहासिक काल की बात लीजिये । इस वक्त भी बहुत से राजपुत्र और राजकन्या, श्रीमान् और श्रीमतियां गायन विद्या का व्यासंग रखते थे । इसे वे ज्ञान का एक आवश्यक अंग समझते थे । इसके प्रमाण संस्कृत काव्यों में और विशेषतः नाटक ग्रन्थों में मिलते हैं । मृच्छकटिक नाटक से मालूम होता है कि चारुदत्त जैसे मनुष्य के घर में भी वीणादि वाद्ययन्त्र थे । इसी प्रकार मालविका जैसी उच्चकुल की राजकन्या को गायन सिखलाने के लिये गणदास नामक एक गवैये की योजना की गई थी । महाश्वेता की वीणा-ध्वनि तो चन्द्रापीड के समान कादंबरी रसामृत की घुटकी लेने-वाले प्रत्येक सहृदय पाठक के कर्णरन्ध्र में आन्दोलित होती थी । ईसवी सन् की बारहवीं सदी में सोम राजा की रानी सबलदेवी ने संभावित, रसिक और मर्मज्ञ सज्जनों की सभा में अपने पूज्य पति

के पास बड़ी कुशलता से सुरस और सुमधुर गायन गाया था। उस समय ऐसा करना, आजकल की तरह बुरा भी न समझा जाता था। पर्दे का रिवाज इस समय भारतवर्ष में न था। विद्वद्वर्य डा० सर भाण्डारकर ने अपने एक व्याख्यान में उक्त घटना का वर्णन करते हुए कहा था:—

There is one remarkable circumstance concerning the grant before us which deserves notice. It was at the instance of a woman that the Kingdom made the grant. In the audience-hall where were assembled eminent and influential men of his and other kingdoms, and persons proficient in the art of music and dancing, and men of taste were gatherd together, and instrumental music was going on, she sang a beautiful song in a most skilful manner, and obtained from the king who was very much pleased, as a reward, his consent to give the land in charity and granted it herself on the occasion, but afterwards got the king to do so more formally in the usual manner."

\+ + + +

"There is, therefore, no doubt that Savaldevi was a married queen of Soma, and if so we have an evidence here that in the last quarter of the twelth century of the Christian era, music and dancing formed a part of the education of Kshatriya girls and that a married Kshatriya woman could be present, at an assembly of eminent men, and sing before them without impropriety. The

strict purdah system, which the Maratha princ and chiefs observe at the present day, and which even the most highly educated among them have not the courage to give up, did not exist in those days."

बात यह है कि भरतखण्ड में आर्यों की गायनप्रियता अत्यन्त उत्कृष्ट दशा को पहुंची हुई थी। यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध होती है। रसिकता के लिये हिन्दुओं की शुरू से ही ख्याति थी। जबतक हम स्वतन्त्र और उन्नत अवस्था में रहे तबतक हमारे यहा गायन आदि कलाओं का विकास होता रहा।

हमारे गायन के तीन भेद हैं उनके नाम ये हैं। आर्चिक, गाथिक, सामिक. इनमें सात स्वरों की योजना की गई है। यथा स (षड्ज), रि (ऋषभ), ग (गांधार), म (मध्यम), प (पंचम), ध (धैवत), नि (निषाद) आदि।

इन्हीं सात स्वरों को हमसे पारसियों ने और पारसियों से इरानियों ने सीखा। इसके बाद यह कला अरबों को प्राप्त हुई और उसीका अनुकरण यूरोप ने किया. यह बात अपनी "History of Indian Literature" में डॉक्टर वेबर साहब स्वीकार करते हैं। इन सप्त स्वरों का आरम्भ यूरोप में पहले पहल गायडो डी. आरेझो नामक एक सज्जन ने ग्यारहवीं सदी में किया। इरानी लोगों ने हमारे सप्त स्वरों का अनुकरण कर दा, री, मी, फा, ला, बी, आदि सुर बनाये। इस प्रकार से गायनकला का आदि गुरु भी भारतवर्ष ही था। सब से पहले यहीं इस कला का सुसंगठित रूप से आरम्भ हुआ था और यहीं से यह कला सारे संसार ने सीखी।

प्राचीन भारत में शिक्षा।

हमारे प्राचीन भारतवर्ष के शिक्षा के आदर्श कितने दिव्य और पवित्र थे, इसका कुछ विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। यहां इस सम्बन्ध में कुछ और लिखने के पहले यह दर्शाना आवश्यक समझते हैं कि हमारे प्राचीन भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार कैसा था। क्या उस समय शिक्षा का प्रचार किसी जाति विशेष तक ही परिमित था? क्या उस समय ब्राह्मण ही शिक्षा के ठेकेदार समझे जाते थे? क्या उस समय शूद्रों के लिये प्रार्थना का मन्त्र बोलना भी पाप समझा जाता था? नहीं, ऐसी कोई बात नहीं थी, ये बातें पीछे जाकर हुई। पहले सार्वत्रिक रूप से शिक्षा का विधान था। हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थ वेदों में भी इसका उल्लेख है। यजुर्वेद (२६.२) में कहा है:—

> यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्य.।
> ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।
> प्रियोदेवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे काम:
> समृध्यता मुप मादो नमतु ॥

इस मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानंद ने इस प्रकार किया है:—

हे मनुष्यो मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री सेवक आदि सब और उत्तम लक्षणयुक्त प्राप्त हुए अन्त्यज के

लिये भी इस संसार में इस प्रकट की हुई, सुख देनेवाली चारों वेदरूपी वाणी का उपदेश करता हूं, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें आदि। इस मन्त्र से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि प्राचीन वैदिक काल में विद्या का क्षेत्र ब्राह्मण तक ही परिमित नहीं था, पर सब के लिये खुला हुआ था। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद में एक राजा ने अपने अतिथि ऋषि से कहा है कि मेरे राज्य में कोई अशिक्षित नहीं है। वाल्मीकि रामायण में सत्यकाम और अन्य शूद्रों की कथाएं आयी हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक विज्ञान और धर्मशास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। मध्ययुग में राजा भोज ने अपने राज्य में शिक्षा का सार्वत्रिक रूप से प्रचार कर दिया था। उसके राज्य में तेली, तमोली, कहार और मोली बेचनेवाले मजदूर तक केवल संस्कृत के ज्ञाता ही नहीं थे, पर संस्कृत में श्लोक रचना तक करते थे। मतलब यह है कि भारत में कई समय ऐसे रहे हैं, जब यहां सार्वत्रिक रूप से शिक्षा का प्रकाश चमकता था और यहां से उन दिव्य सिद्धान्तों और तत्वों का आविष्कार होता था, जो सारे संसार की सभ्यता को प्रकाशित करते थे।

प्राचीन भारतवर्ष की शिक्षा के आदर्शों का कथन करने के पहले हम यह दिखलाना चाहते हैं कि पहले किस पवित्र उद्देश से शिक्षा की जाती थी। क्या उस समय नौकरी के लिये-गुलामी करने के लिये-घमण्डी अफसरों की फटकार और अपमान सहने के लिये शिक्षा प्राप्त की जाती थी? क्या उस समय केवल धन कमाना और विलासिता की सामग्री को बढाना शिक्षा का उद्देश समझा जाता था? नहीं। उस समय शिक्षा का आदर्श अत्यन्त उच्च और पवित्र था। देखिये उपनयन संस्कार

के समय विद्यार्थी गुरु से क्या कहता है "परमात्मा को पहचानने के लिये ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने के लिये, हे आचार्य्य देव! मैं तुम्हारे पास आता हूं।" इस पर गुरु कहता है "हे बालक! मैं तुझे ईश्वर के भरोसे छोड़ता हूं, जिसमें तू उसका ज्ञान प्राप्त करे।"

गुरु विद्यार्थी को जिन २ विद्याओं को पढ़ाने का अभिवचन देता था, उनमें सब से पहली प्राणविद्या रहती थी। प्राणविद्या उस विज्ञान का नाम है, जो दृश्य संसार से परे रहे हुए परम तत्व का ज्ञान करवाता है।

मतलब यह है कि शिक्षा का प्रथम और सर्वोपरि उद्देश आध्यात्मिक और आत्मिक विकास समझा जाता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आजकल के बड़े २ विज्ञानी भी हमारी आध्यात्मिक विद्या को मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं उन्होंने इसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। हमारे पूर्वजों ने अपने जीवन का बहुमूल्य भाग इस विद्या के विकास में व्यय किया था। उन्होंने इसमें आशातीत सफलता प्राप्त की थी। हमारे उपनिषद् ग्रन्थ हमारे दर्शन शास्त्र हमारी इस विद्या की अद्वितीय सफलता के स्मारक हैं। शोपनहार जैसे जगत्प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिकों ने उपनिषदों को आत्मा को शांति देनेवाले और मृत्यु के समय तसल्ली देनेवाले साधन कहे हैं। एडवर्ड कॉरपेन्टर ने हमारे प्राचीन योगियों की बड़ी प्रशंसा की है। विश्वविख्यात विज्ञानी सर ऑलिव्हर लाज ने हमारे योगियों के कई सिद्धान्तों का समर्थन किया है।

इसके बाद सारे संसार के लिये प्रेम भावना का विकास करना, और केवल मानव जाति ही को नहीं पर विश्व के सर्व

चराचर जीवों के प्रति करुणा भाव रखना भी हमारी आर्य्य-शिक्षा का पवित्र उद्देश माना गया है। आचार्य्य अपने शिष्य से कहता है कि "हे शिष्य! तू सारे संसार के प्राणियों में शान्ति फैला।" आचार्य्यगण अपने शिष्यों को इस दिव्य तत्व की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिये अपने भोजन में से कुछ हिस्सा छोटी जाति के प्राणियों को खिलाकर खाते थे। अब भी हमारे कई हिन्दू गृहस्थ कुत्ते, गाय आदि को रोटी डालकर फिर भोजन करते हैं। आचार्य्यगण विद्यार्थियों पर सद्प्रभाव डालने के लिये तथा अन्य विद्वानों से भी उन्हें उपदेश करवाने के लिये विद्यावान् सज्जनों को निमन्त्रित किया करते थे। इसके अतिरिक्त जब आसपास के गांवों के लोगों में किसी प्रकार की विपत्ति आ पड़ती थी, तब गुरुजन अपने शिष्यों सहित उनकी सेवा करने के लिये जाते थे। दया का उच्चतम आदर्श हमारे भारतीय ऋषियों ने दिखलाया है, हम दावे के साथ कहते हैं कि संसार के किसी धर्माचार्य ने इतना ऊंचा आदर्श नहीं दिखलाया। हमारे शास्त्रों में सकल प्राणियों के प्रति दया का जैसा उच्चतम और उत्कृष्ट भाव दिखलाया है, मांस भोजन के प्रति जैसी घृणा दिखलाई गई है और विश्वव्यापी प्रेम तथा विश्वबंधुत्व का जैसा दिव्य संदेशा हमारे शास्त्रों में कथित किया गया है, संसार के किसी धर्म ग्रन्थ में दया का इतना उज्वल रूप और विश्वव्यापी प्रेम और विश्वबंधुत्व का इतना ऊंचा आदर्श न मिलेगा। पर हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि अब हमारे इन आदर्शों की आत्मा बहुत कुछ विकृत हो गई है और उनका ऊपरी ढांचा मात्र रह गया है।

आजकल कितने ही लोगों का कथन है कि स्वदेशभक्ति की कल्पना आधुनिक है। पर यह बात गलत है। हमारे यहां गर्भ

हों में बच्चों को स्वदेशभक्ति और विश्वकल्याण के संस्कार करवाये जाते थे। गर्भिणी स्त्रियों को ऐसे उपदेश दिये जाते थे, जिससे उनके गर्भस्थ बालक पर अच्छे संस्कार गिरकर बुद्धिमान प्रतिभाशाली, सच्चरित्र और कान्तिमान् बालक उत्पन्न हों। इसके बाद शिक्षा के समय भी बालक में स्वदेशसेवा और विश्वबंधुत्व के भाव भरे जाते थे।

हमारी प्राचीन शिक्षा में विद्यार्थी के लिए ब्रम्हचर्य का पालन करना आवश्यक था। विद्यार्थी के लिये ब्रम्हचर्य का इतना महत्व समझा जाता था कि विद्यार्थी के लिए ब्रम्हचारी शब्द व्यवहृत किया गया है। जब पिता अपने बच्चे को शिक्षा प्राप्ति के अर्थ भेजता था, तब वह उसे ब्रम्हचर्य के नियम समझाता था। हिन्दुओं का ब्रम्हचर्य्य का आदर्श अद्वितीय है और उनकी पवित्रता प्रशंसनीय है।

इसके बाद सत्य का नंबर आता है। हमारे यहां क्या गुरु के लिये और क्या विद्यार्थी के लिये, सब के लिये सत्य का अवलम्बन आवश्यक धर्म समझा जाता है। हमारे यहां गुरु और शिष्य दोनों को यह प्रतिज्ञा करना पड़ती थी कि " हम असत्य कार्य और असत्य वचनों का त्याग करें और सत्य का अवलम्बन करें। हमारी संसार विधि में जो मन्त्र हैं, उनमें पिता पुत्र को सत्य का अवलम्बन करने का उपदेश देता है। सत्य का इतना सख्त प्रतिबन्ध होने ही के कारण हमारे यहां प्राचीन काल में देने लेने के लिए दस्तावेज करने का तथा मकानों को ताले लगाने की जरूरत नहीं पड़ती थी।

विद्यार्थियों में सौन्दर्य परीक्षण शक्ति का विकास करना भी उस समय शिक्षा का आवश्यक अंग समझा जाता था। उपनयन

चराचर जीवों के प्रति करुणा भाव रखना भी हमारी आध्य-शिक्षा का पवित्र उद्देश माना गया है। आचार्य्य अपने शिष्य से कहता है कि "हे शिष्य! तू सारे संसार के प्राणियों में शान्ति फैला।" आचार्य्यगण अपने शिष्यों को इस दिव्य तत्व की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिये अपने भोजन में से कुछ हिस्सा छोटी जाति के प्राणियों को खिलाकर खाते थे। अब भी हमारे कई हिन्दू गृहस्थ कुत्ते, गाय आदि को रोटी डालकर फिर भोजन करते हैं। आचार्य्यगण विद्यार्थियों पर सद्प्रभाव डालने के लिये तथा अन्य विद्वानों से भी उन्हें उपदेश करवाने के लिये विद्यावान् सज्जनों को निमन्त्रित किया करते थे। इसके अतिरिक्त जब आसपास के गांवों के लोगों में किसी प्रकार की विपत्ति आ पड़ती थी, तब गुरुजन अपने शिष्यों सहित उनकी सेवा करने के लिये जाते थे। दया का उच्चतम आदर्श हमारे भारतीय ऋषियों ने दिखलाया है, हम दावे के साथ कहते हैं कि संसार के किसी धर्माचार्य ने इतना ऊंचा आदर्श नहीं दिखलाया। हमारे शास्त्रों में सकल प्राणियों के प्रति दया का जैसा उच्चतम और उत्कृष्ट भाव दिखलाया है, मांस भोजन के प्रति जैसी घृणा दिखलाई गई है और विश्वव्यापी प्रेम तथा विश्वबंधुत्व का जैसा दिव्य सन्देश हमारे शास्त्रों में कथित किया गया है, संसार के किसी धर्म ग्रन्थ में दया का इतना उज्वल रूप और विश्वव्यापी प्रेम और विश्वबंधुत्व का इतना ऊंचा आदर्श न मिलेगा। पर हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि अब हमारे इन आदर्शों की [illegible] बहुत कुछ विकृत हो गई है और उनका ऊपरी ढांचा [illegible] रह गया है।

[illegible] कितने ही लोगों का कथन है कि स्वदेशभक्ति की [illegible]। पर यह बात गलत है। हमारे यहां गर्भ

हों में बच्चों को स्वदेशभक्ति और विश्वकल्याण के संस्कार करवाये जाते थे। गर्भिणी स्त्रियों को ऐसे उपदेश दिये जाते थे, जिससे उनके गर्भस्थ बालक पर अच्छे संस्कार गिरकर बुद्धिमान प्रतिभाशाली, सच्चरित्र और कान्तिमान् बालक उत्पन्न हो। इसके बाद शिक्षा के समय भी बालक में स्वदेशसेवा और विश्वबन्धुत्व के भाव भरे जाते थे।

हमारी प्राचीन शिक्षा में विद्यार्थी के लिए ब्रम्हचर्य का पालन करना आवश्यक था। विद्यार्थी के लिये ब्रह्मचर्य का इतना महत्व समझा जाता था कि विद्यार्थी के लिए ब्रम्हचारी शब्द व्यवहृत किया गया है। जब पिता अपने बच्चे को शिक्षा प्राप्ति के अर्थ भेजता था, तब वह उसे ब्रम्हचर्य के नियम समझाता था। हिन्दुओं का ब्रम्हचर्य्य का आदर्श अद्वितीय है और उनकी पवित्रता प्रशंसनीय है।

इसके बाद सत्य का नंबर आता है। हमारे यहां क्या गुरु के लिये और क्या विद्यार्थी के लिये, सब के लिये सत्य का अवलम्बन आवश्यक धर्म समझा जाता है। हमारे यहां गुरु और शिष्य दोनों को यह प्रतिज्ञा करना पड़ती थी कि " हम असत्य कार्य और असत्य वचनों का त्याग करें और सत्य का अवलम्बन करें। हमारी संसार विधि में जो मन्त्र हैं, उनमें पिता पुत्र को सत्य का अवलम्बन करने का उपदेश देता है। सत्य का इतना सख्त प्रतिबन्ध होने ही के कारण हमारे यहां प्राचीन काल में लेने देने के लिए दस्तावेज करने का तथा मकानों को ताले लगाने की जरूरत नहीं पड़ती थी।

विद्यार्थियों में सौन्दर्य परीक्षण शक्ति का विकास करना भी उस समय शिक्षा का आवश्यक अंग समझा जाता था। उपनयन

संस्कार के समय विद्यार्थी को कहना पडता है कि "ईश्वर तू मुझे सम्भाल और मुझे सुन्दर दृश्यों को देखने की शक्ति दे।"

इस सत्र के अतिरिक्त आचार्य्यगण आध्यात्मिक विज्ञान, नीतिशास्त्र, ईश्वरीय विज्ञान, धर्मशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, खनिजशास्त्र नैसर्गिक भूगोल, भूगर्भशास्त्र, तापशास्त्र, नेत्र चिकित्साशास्त्र, समाजशास्त्र, धनुर्वेद, व्यवहारशास्त्र आदि कई विद्याओं की शिक्षा अपने विद्यार्थियों को देते थे। हमारे धर्मशास्त्रों में कई जगह इन विद्याओं के उल्लेख आये हैं। इनके अतिरिक्त हमारे यहां और भी कई प्रकार की विद्याएं सिखलाई जाती थीं इनका संक्षिप्त विवरण, आगे चलकर, हम करेंगे।

आचार्य्यों को अपने विद्यार्थियों के मानसिक विकास ही की ओर ध्यान नहीं देना पडता था, पर उनके शारीरिक और व्यावहारिक विकास की ओर भी वे सजग रहते थे।

कितने ही लोगों का खयाल है कि प्राचीन काल के हिन्दुओं ने आध्यात्मिक उन्नति के आगे और सब प्रकार की उन्नतियों को भुला दिया था, पर यह बात गलत है। हां, उनके जीवन का आदर्श प्रायः आध्यात्मिक उन्नति रहा करती थी, पर इसके साथ साथ वे व्यावहारिक उन्नति की ओर भी उपेक्षा नहीं करते थे। ब्रम्हचारी उपनयन संस्कार के समय इच्छा प्रगट करता है कि "हे ईश्वर! मुझे वह सामर्थ्य प्राप्त हो जिससे मैं धन, [illegible] भोजन, विशुद्ध जल और अच्छी वनस्पति प्राप्त करूं।" [illegible] भी विद्यार्थियों को आध्यात्मिक शिक्षा के साथ [illegible] प्रकार की ऐसी सांसारिक शिक्षाएं भी देते थे, जिनसे [illegible] संसार में अपना जीवन निर्वाह कर सकें।

वे अपने विद्यार्थियों को कई प्रकार की कलाएं सिखलाते थे। प्राचीन हिन्दुओं ने कई प्रकार की कलाओं में जो आश्चर्यकारक प्रवीणता प्राप्त की थी, उसके कितने ही उदाहरण हमारी नजर के सामने हैं। हमारे अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में भी कितनी कलाओं का उल्लेख है, जो उस समय की सभ्यता की द्योतक है।

शिक्षासम्बन्धी संस्थाएं।

ब्राम्हण ग्रन्थ तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि प्राचीन काल में दो प्रकार की शिक्षण संस्थाएं थीं। उनके नाम क्रम से परिषद् और वानप्रस्थ पाठशालाएं थीं। प्रत्येक परिषद् में सरासरी तौरसे २१ स्पेशियालिस्ट प्रोफेसरोंका काम करते थे। ये प्रोफेसर जुदे २ विषयों के होते थे। और जिन विषयों में ये प्रवीण होते थे उनकी अपने विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। इनका खर्च स्टेट उठाती थी। वानप्रस्थ पाठशालाओं का भी बड़ा महत्व था। इनकी संख्या भी ज्यादा थी। इनमें ज्यादातर साधारण विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे अर्थात् ये स्कूलों की तरह थीं और परिषदें कॉलेजों की तरह थीं। इनमें जो अध्यापक रहते थे, वे सारे संसारिक झगडे बखेडों से निवृत्त रहते थे। वे वानप्रस्थाश्रम धारण कर जंगलों में रहा करते थे। पाठशालाएँ और परिषदें भी किसी सुमनोहर निर्जन वन में हा करती थीं जिससे विद्यार्थी आध्यात्मिक और संसारिक विषयों के अध्ययन करने के अतिरिक्त प्रकृति माता की गोद में बैठकर प्राकृतिक दृश्यों से भी शिक्षा और आनंद प्राप्त किया करते थे। सुन्दर और सुमनोहर एकान्तवास में रहने से और निरंतर प्रकृति माता के दर्शन करते रहने से उनका आश्चर्यकारक रूप से मानसिक विकास होता था, और वे अपनी आत्मा को उच

अनन्त स्वर में बडी शांति के साथ मिला देते थे, वे तल्लीन होजाया करते थे। इस जगह उनका जीवन परमात्म जीवन से मिल जाया करता था और इसमें उनकी आत्मा को वह अलौकिक शांति और अपूर्व सुख मिलता था, जो मानवी जीवन के प्रधान ध्येय हैं। यहां उनकी दृष्टि विशाल और विश्वव्यापी हो जाया करती थी. क्योंकि उनका सदा उस विश्वव्यापी परमात्म जीवन से सम्बन्ध रहता था। अर्थात् प्राचीन काल में विद्यार्थीगणों को आत्मा के विकास करने के पूर्ण साधन मिलते थे और आगे जाकर भी वे अपना जीवन दिव्य रीति से व्यतीत करते थे। जिन स्थानों में वे अध्ययन करते थे, वे स्थान आजकल के बाहरी आडम्बरों से विलकुल शून्य थे। वहां बडी २ इमारतें कुर्सियां, टेबलें नहीं रहा करती थीं, पर आत्मा को विकसित करनेवाले और दृष्टि को विश्वव्यापी बनानेवाले दिव्य साधनों की कमी न थी। वन में विचरनेवाले पशु पक्षियों तक से उनका बंधुत्व का सम्बन्ध रहता था। वन में उगनेवाले वृक्षों तक से वे प्रेम करते थे। उनकी आसपास की परिस्थिति, क्या कहें, बडी दिव्य रहती थी। यद्यपि वे बाहरी ठाठबाठ से विहीन रहते थे, पर आत्मिक सामग्री की बडी विपुलता रहती थी। चारों तर्फ से उनकी आत्मा पर दिव्य प्रभाव पडते थे, इससे उनकी आत्मा दिव्य बन जाती थी। वे किस प्रकार से सादा जीवन व्यतीत करते थे, इसका उल्लेख आगे चलकर होगा। खुली हवा में सुन्दर और हरे हरे वृक्षों की छाया में गुरुजनों के पास बैठकर ये विद्याध्ययन करते थे, और आस पास के गांवों से भिक्षा मांगकर अपना निर्वाह करते थे। गृहस्थ लोग इन्हें भिक्षा देने में अपना परम सौभाग्य समझते थे। हमारी प्राचीन [illegible] [illegible] आदिक अनुपम

के साथ इनके आगमन की प्रतीक्षा करती रहती थी। दोनों ओर से बडीही दिव्य भावनाएं रहती थीं।

अहा! प्रकृति देवी का अपूर्व आनन्द उपभोग करनेवाले और उस विश्व संगीत में अपना सुर मिला देनेवाले, सृष्टि के परमाणु से अपना बंधुत्व का सम्बन्ध रखनेवाले गुरुओं का तथा विद्यार्थियों का जीवन कितना सुखी, कितना आनन्दी और कितना दिव्य रहता होगा, इसका अनुमान करना भी हमारे लिये कठिन है। अहा! कितना बढ़िया नैसर्गिक जीवन का आदर्श है! अगर ऐसी परिस्थिति में हमारे यहां संसार को मुग्ध कर देनेवाले कवि, दर्शन शास्त्री, तत्वज्ञानी, आत्मज्ञानी हुए तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

इस प्रकार का हमारा विद्यार्थी जीवन था। आश्रम में या गुरुकुल में रहकर विद्यार्थी को अत्यन्त सादगी का तपस्वी जीवन व्यतीत करना पडता था। जैसा हम पहले कह चुके हैं, उन्हें पूर्ण रूप से ब्रम्हचर्य व्रत पालन करना पडता था। वीर्य की पूर्ण रूप से रक्षा करना उनका धर्म था। इसके लिये हमारे ऋषियों ने बडे अच्छे नियम बना रखे थे। यह एक अत्यन्त हर्ष की बात है कि आजकल के कई पाश्चात्य डॉक्टर भी इन नियमों की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। सबसे पहला नियम ब्रम्हचारी के लिये तपश्चर्यापूर्वक रहना था। उसे नंगे पैर रहना पडता था। अगर कभी पैर में कुछ पहनने की आवश्यकता होती तो वे खडाऊं पहनते थे। उनके पास केवल एक बिछौना रहता था, जिससे सर्दी और गर्मी से अपने शरीर की रक्षा करते थे उनके लिये छाता रखने की मनाई थी। उन्हें पैर पैर प्रवास करना पडता था। इतनाही नहीं उन्हें हलका सा हलका काम (menial work)

तक करना पडता था । उन्हें बारी २ से कपडे धोना, झाड़ू देना, बर्तन साफ करना, कुएं मे पानी खींचना. लकडी काटना आदि-कई काम करना पडते थे ।

इतना कठिन काम करने पर भी उन्हें सादा भोजन मिलता था । सराब, मछली, मांस, प्याज, लसन, शहद, लालमिर्च और इस प्रकार के तमोगुण को बढानेवाले अन्य पदार्थों से उन्हें पर-हेज रखवाया जाता था । विलासिता का स्पर्श तक उन्हें न होने दिया जाता था । गायन, नृत्य, जुआ आदि का प्रवेश शिक्षण संस्थाओं में न होने पाता था ।

उनकी पोशाख भी बडी सीधी सादी रहती थी । वह उनकी परिस्थिति के अनुकूल रहती थी ।

अब प्राचीन शिक्षा पद्धति के लिये भी दो शब्द लिखना आवश्यक है । कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि पहले केवल प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी । उस समय बहुत कम ग्रन्थ थे । पर यह बात गलत है । हमारे आर्य्यों के पास भिन्न २ विषयों के हजारों ग्रन्थ थे । एडवर्डकॉरपेन्टर का कथन है कि अकेले अगस्त्य मुनि के ग्रन्थ इकट्ठे किये जावें तो उनका एक पुस्तकालय बन-सकता है । प्रोफेसर Aufrecht द्वारा सम्पादित सूचिपत्र में १०००० संस्कृत ग्रन्थों का नोटिस है । कहने का मतलब यह है कि हमारे यहां विपुल ग्रन्थ सामग्री थी । इतना होते हुए भी हमारे आचार्यगण पुस्तकीय ज्ञानपर ज्यादा जोर नहीं देते थे । पुस्तकों का वे बहुत कम उपयोग करते थे । निरन्तर के निदि-ध्यासन और अनुभव से वे जो ज्ञान प्राप्त करते थे, उन्हीं को [illegible] तौर से विद्यार्थियों को देते थे । ग्रन्थों की शिक्षा

गौणरूप से देते थे। गुरुगण इस बात की चेष्टा करते थे जिससे विद्यार्थी स्वयं निरीक्षण कर तथा स्वयं विचार कर अपने आप शिक्षा प्राप्त करें। अपने स्वतन्त्र सिद्धान्तों की सृष्टि करें। छान्दोग्योपनिषद् में एक कथा है जिसका मर्म यह है:—

"विद्यार्थी कभी कभी अकेला छोड दिया जाता था। इस समय उसे प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध करने का और उससे नतीजे निकालने के अवसर मिलते थे। इस समय उसे महान् सत्यों का पता अपने आप लग जाता था। जब वह जंगल में अपने गुरु के ढोर चराता या लकडियें इकट्ठी करता, उस समय उसे उस एकान्त स्थल में एक प्रकार का दिव्य अनुभव होता था। इससे उसके विचारों को-उसकी निर्णयशक्ति को-बडी ही अलौकिक शक्ति प्राप्त होती। सत्य काम के लिये कहा जाता है कि ढोर चराते समय जंगल में उसने प्रकृति से महान् सत्य तत्व-सीखे उसने चरनेवाले ढोरों से, जलती हुई अग्नि से, उडते हुए पक्षियों से तत्व शिक्षा प्राप्त की। एक समय इसे इसके गुरु ने पूछा कि "हे शिष्य!, तू ऐसा प्रकाशमान् दीख रहा है, मानों तुझे ब्रम्हज्ञान होगया है। कह, तुझे यह ज्ञान किसने करवाया है।" इस पर उस नवयुवक शिष्य ने जवाब दिया "यह ज्ञान मुझे मनुष्यों ने नहीं करवाया। मुझे प्रकृति से मालूम हुआ है कि ये चारों दिशाएं, पृथ्वी, आकाश, महासागर, सूर्य, चंद्र, विद्युत्, अग्नि, इन्द्रियां, सजीव प्राणियों के मन या यों कह लीजिये कि यह सारा विश्व ब्रम्ह है।"

ब्रम्हचारी को, आत्मविकास के लिये-आत्मा की गूढ शक्तियों के आविष्कार के लिये-प्राणायाम आदि भी सिखलाये जाते थे,

जिससे कि वह आगे जाकर सारी शक्तियों का एकीकरण करे अपने कार्य्यों में पूर्णरूप से सिद्धि प्राप्त कर सके और उस अनंत परमात्मा से अपना सम्बन्ध जोड सके। इसके अतिरिक्त धनुर्वेद, कला-कौशल आदि कई प्रकार की विद्याएँ भी सिखलाई जाती थीं।

यह हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दुस्थान विद्या का केन्द्रस्थल था। यह भारतभूमि प्राचीन सभ्यता की वासभूमि थी। दूर दूर के राष्ट्रों से विद्यार्थीगण अपनी ज्ञान तृप्ति के अर्थ यहां आते थे। यहां बडे २ विश्वविद्यालय थे, जिनकी उज्ज्वल कीर्ति उस समय सारे संसार में फैल रही थी। यहां हम प्राचीन काल के कुछ विश्वविद्यालयों का संक्षिप्त विवरण देना चाहते हैं।

तक्षशिला विश्वविद्यालय।

इसवी सन् के ६०० वर्ष पूर्व भारतवर्ष के इस विश्वविद्यालय की ख्याति सारे संसार में फैली हुई थी। इस समय भारत में यह सब से बडा विश्वविद्यालय था। विद्या का यह केंद्रस्थान था। कहा जाता है कि इसके सोलह विभाग थे, जिनमें सोलह जुदे २ विषय पढाये जाते थे। अपने २ विषय का पूर्ण पारदर्शी विद्वान् उस विषय के विभाग का अध्यक्ष रहता था। इसमें साहित्य, विज्ञान, दर्शन शास्त्र, व्याकरण, राजनीति, धर्मशास्त्र आदि विषयों के साथ साथ कई प्रकार की कलाएँ भी सिखलाई जाती थीं। पाणिनी, चाणक्य आदि कई विश्वविख्यात विद्वानों ने इस विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी। यहां विद्यार्थियों को कुछ फीस भी देना पड़ती थी। यह विश्वविद्यालय खास तौर से औषधि विज्ञान के लिये विशेष प्रख्यात था। सुप्रसिद्ध बौद्धकालीन वैद्य जीवक

ने जिसने कि राजा बिम्बसार को एक दुःसाध्य रोग से आराम किया था, यहीं शिक्षा पाई थी। खुद भगवान् बुद्धदेव वैद्यक विज्ञान का अध्ययन करने के लिये यहां ऋषि अत्रेय के पास आये थे। जीवक ने यहां सात वर्ष तक इस औषध विज्ञान का अध्ययन किया था। इसके बाद इस विश्वविद्यालय में इसकी परीक्षा की गई थी। इससे पूछा गया था कि तक्षशिला के आस-पास जितनी वनस्पतियां हैं, जितनी जड़ें हैं, जितनी घास है, जितने पौधे हैं, उन सब के वैद्यकीय गुण कहो। जीवक ने इन सब की परीक्षा की और अपने प्रोफेसर को जतलाया कि ऐसी कोई वनस्पति और वृक्ष नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ वैद्यकीय गुण न हो।

इस संसारप्रख्यात् विश्वविद्यालय की ख्याति कई शताब्दियों तक अटल बनी रही। सम्राट् अशोक के समय अर्थात् ईसवी सन के पूर्व तीसरी शताब्दि में भी यह बड़ी उन्नत अवस्था में था। अशोक के समय की भारत की स्थिति का वर्णन करते हुए सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक मि. विन्सेंट स्मिथ लिखते हैं—

"तक्षशिला विश्वविद्यालय में राजाओं के, ब्राम्हणों, वैश्यों और ऊंची जाति के सब लोगों के लड़कों के झुंड के झुंड इस [illegible] विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्ति के लिये आते थे। यहां वे [illegible] और खास तौर से वैद्यक विज्ञान का अध्ययन [illegible]।"

[illegible] का विश्वविद्यालय।

[illegible]

ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों की शिक्षायें दी जाती थी। सिद्ध नागार्जुन के समय में इसकी कीर्ति देश देशान्तरों में फैल गई थी। इसकी आधीनता में छः कालेज थे।

नलंद का विश्वविद्यालय।

इस विश्वविद्यालय की ख्याति सारे संसार में फैली हुई थी। प्राचीन भारत में यह एक अत्यन्त नामांकित विद्या केन्द्र समझा जाता था। एशिया के भिन्न २ देशों के हजारों विद्यार्थी इसमें शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे। इसके महत्व का आप इससे अन्दाजा कर सकते हैं कि इसमें शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों की संख्या १०००० के लगभग थी। जिस समय यह विश्वविद्यालय अपने ज्ञान की किरणें सारे संसार में फैला रहा था उस समय यूरोप के लोग इतनी जंगली अवस्था में थे कि वे यह भी न जानते थे कि विश्वविद्यालय किस चिड़िया का नाम है। इसके स्थापित होने के सात सौ वर्ष बाद सन् ६७३ में चीन का सुप्रसिद्ध प्रवासी संस्कृत का अध्ययन करने के लिये इसमें प्रविष्ट हुआ था। इसकी इमारत बड़ी आलीशान और सुन्दर थी। कारीगरी का एक अपूर्व नमूना था। इसमें एक बढ़िया प्रयोगशाला थी। इसमें एक ऐसा विशाल पुस्तकालय था, जिसकी जोड़ का पुस्तकालय उस समय संसार भर में न था।

इस विशाल विश्वविद्यालय में धार्मिक और व्यवहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इसमें बौद्ध धर्म की शिक्षा की तो प्रधानता थी ही पर वैदिक शिक्षा की भी उपेक्षा न की जाती थी। इसके अतिरिक्त व्याकरण, न्यायशास्त्र, वैद्यकविज्ञान, तन्त्रशास्त्र, तत्वज्ञान और अध्यात्म विज्ञान आदि कई विषय भी

निपुणता के साथ पढाये जाते थे। संस्कृत और पाली के गद्यात्मक तथा पद्यात्मक साहित्य की भी शिक्षा दी जाती थी।

इस विश्वविद्यालय में बडी मानसिक स्वतन्त्रता थी। इसमें तर्कशास्त्र का बहुत विकास हुवा था। विद्यार्थियों से भिन्न २ विषयों पर वादानुवाद करवाया जाता था और विद्यार्थियों को अपने विचार खुले तौर से प्रकाशित करने की स्वतन्त्रता थी। ह्यूएनसांग की जीवनी का लेखक लिखता है कि "जो लोग बाहर से आकर इस विश्वविद्यालय के तर्कशास्त्र के विभाग में प्रविष्ट होते थे उनमें से बहुत से लोग इस गहन, गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ से घबराकर इससे हटकर उन्हें दूसरे विभाग की शरण लेना पडता था। जिन लोगों की तर्कशक्ति अपूर्व हुआ करती थी, जो पूरे विद्वान् हुआ करते थे, वेही इसमें ठहर सकते थे।"

नलंद विश्वविद्यालय तिब्बती विश्वविद्यालय की तरह धार्मिक विश्वविद्यालय था। जो लोग धार्मिक और साधु जीवन व्यतीत करते थे, प्रायः वेही इसमें विशेषरूप से लिये जाते थे। चीन, तिब्बत, मध्यएशिया, बुखारा, कोरिया से कई बौद्ध साधुसंत इसमें शिक्षा पाने के लिये आते थे और उन्हें यहां बोर्डिंग में मुफ्त रखा जाता था। इनके खाने पीने, ओढने बिछाने तथा शिक्षा का सब प्रबन्ध विश्वविद्यालय की ओर से किया जाता था।

नलंद के विश्वविद्यालय को अपना खर्चा चलाने के लिये [illegible] आमदनी थी। राजा महाराजा तथा सेठ साहूकार लाखों [illegible] सहायता करते थे। इसके अलावा इसके तावेमें कोई [illegible] जिनकी आमदनी लाखों रुपया थी। ये गांव [illegible]

इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत छ: कॉलेज थे। जो लोग जिस विषय के पारङ्गत विद्वान् और अनुभवी होते थे और जो साथ ही वृद्ध होते थे, वे प्रोफेसर के पद पर चुने जाते थे। आधुनिक विश्वविद्यालयों की तरह एक विषय का एक एक प्रोफेसर होता था। इस विश्वविद्यालय में तक्षशिला की तरह विविध प्रकार के विषय नहीं पढाये जाते थे। इसमें विषय की विविधता के गहनता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। सिलादित्य राजा के समय यह विश्वविद्यालय अच्छी उन्नत अवस्था में था। क्यों कि यह राजा इसका संरक्षक था। इसकी मृत्यु के बाद इसका अवनत काल प्रारम्भ हुआ। ९ वीं दसी तक इसका अस्तित्व कायम था।

मध्य युग के विश्वविद्यालय।

औदन्तपुरी का विश्वविद्यालय।

नलंद विश्व विद्यालय के अवनति के समय विहार में औदन्तपुरी के विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। यह सन ७३० के लगभग बंगाल के राजा लोक पाल के द्वारा स्थापित किया गया था। इसमें बोद्ध और वैदिकग्रंथों का एक विशाल पुस्तकालय था। दुःख है कि मुसलमानों ने ईसवी सन् ११९७ में इस विश्वविद्यालय को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, उसमें रहनेवाले बौद्ध साधुओं को कतल कर डाला और साथ ही साथ उसका विशाल पुस्तकालय जला डाला।

विक्रमशिला विद्यालय।

यह विश्वविद्यालय सन् ८०० के लगभग धर्मपाल ने विहार विक्रमशिलानगर में स्थापित किया था। इस विश्वविद्यालय के

नलंद के विश्वविद्यालय के साथ भी सम्बन्ध था। यह भी इतना प्रख्यात् था कि दूर दूर के देशों से सैंकडो विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिये इसमें आते थे। इसके अन्तर्गत छः कॉलेज थे। यहां निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। इसमें चार बोर्डिंग हाउस (छत्र) थे, जिनमें स्थानीय विद्यार्थी मुफ्त भोजन पाते थे। राजा महाराजाओं तथा अमीर उमरावों की सहायता से इसका खर्च चलता था। यह विश्वविद्यालय चार शताब्दि तक खूब चमका। मुसलमानों का आगमन होते ही इसकी इतिश्री होगई।

वैदिकधर्म के पुनुरुत्थान के समय उक्त हिन्दुविद्या के केन्द्रस्थल कन्नौज और बनारस थे। बंगाल में सेन राजाओं के समय पहले मिथिला और फिर नवद्वीप संस्कृत विद्या के केन्द्र थे। नवद्वीप से मुसलमानों के हमले होने बाद भी, रघुनाथ, रघुनंदन और चैतन्य जैसे महापंडित निकले। यहां तर्कशास्त्र, स्मृती, ज्योतिष व्याकरण, काव्य, साहित्य और तन्त्र आदि पढाये जाते थे। पर तर्कशास्त्र के क्षेत्र में इसने विशेष सफलता प्राप्त की थी।

आइने अकबरी से मालूम होता है कि अकबर के समय में बनारस विद्या का केन्द्रस्थान था। वहां बडी चहल पहल रहती थी।

किया है, जिसमें लोकमान्य ने आर्यों का आदि स्थान उत्तरीय ध्रुव सिद्ध किया है। मि. पावगी ने कई प्रबल प्रमाणों और अकाट्य युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आर्यो का आदि स्थान तो यह भारतवर्ष ही है। उत्तरीय ध्रुव में जाकर उन्होंने अपना उपनिवेश बसाया था। यह विषय इतना विवादास्पद है कि इस पर यहां अधिक विवेचन करना असामयिक होगा, इसलिये इसका इशारा ही करना हमने काफी समझा।

इजिप्त।

असल में यह हिन्दुओं का उपनिवेश था। जान पडता है कि सात आठ हजार वर्ष के पहले भारतीयों का एक दल मिश्र में जाकर बसा था और उन्होंने वहां प्राचीन संसार का एक अत्यन्त शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया था। कर्नल अलकाट (Colonel Olcott) लिखते हैं—

"India, eight thousand years ago sent a colony of emigrants, who carried their arts and high civilization in to what is now known to us as Egypt. अर्थात् भारतवर्ष ने कोई आठ हजार वर्ष के पहले अपने यहां से प्रवासियों का एक दल भेजा था, जो अपने साथ भारत की कलाएं और ऊंची सभ्यता उस स्थान में लेगये थे जो आजकल मिश्र के नाम से मशहूर है। ब्रुगरोव नामक एक साहब, जिनका ज्ञान प्राचीन मिश्र के विषय में बहुत बढा हुआ है, लिखते हैं—

"Indians migrated from India long time since historic memory, and crossed the bridge of nations, the Isthmus of Suez, to find a new

fatherland on the banks of Nile अर्थात् ऐतिहासिक काल के बहुत पहले भारतवासियों ने विदेशी प्रवास किया और स्वेज के मुहाने को पार करके उन्होंने नील नदी के तटस्थ देश को अपनी नवीन मातृभूमि बनाया।"

कई वर्ष हुए न्यूयार्क के ए. डी. मार साहब ने "इण्डियन-रिव्हयू" में एक लेख लिखा था। इस लेख में उन्होंने सिद्ध किया था कि साढे तीन हजार वर्ष पूर्व भारतवासी व्यापार आदि के लिये विदेश को केवल जाते ही न थे, बल्कि वे मिश्र देश में जाकर बस भी गये थे। इस बात के कितने ही प्रमाण मिलते हैं कि मिश्र में पहले पहल लंकानिवासी समुद्र के मार्ग से अरब, ऍबीसीनिया, या एथोनिया होकर गये, तदनंतर वहां मालवा, कच्छ, उडीसा और बंगाल की खाडी के आस पास के रहनेवाले पहुंचे। मिश्रवाले अपने पहले राजा और धर्मशास्त्र प्रणेता का नाम "मीनस" बतलाते हैं। यह शब्द मनु का अपभ्रंश है। केवल मिश्रवासियों ने ही नहीं, पर उस समय की अन्य जातियों ने भी मनु को मनिस, मनस, मनः, मने, मन्नु आदि नामों से अपना व्यवस्थापक माना है। मिश्र की एक प्राचीन जाति का नाम दानव है। यह शब्द हमारे पुराणों में कई जगह आया है। हमारे यहां के सिक्कों के नाम भी मिश्र में प्रचलित थे। यथा माशा, सिकल (सिक्का) दीनारस (दीनार) वहां के माप तौल आदि भी हिन्दुस्थान ही के समान थे। मार्टन नाम के एक साहब ने लिखा है कि मसाला लगे हुए मुर्दों की सैंकडे पीछे अस्सी खोपडियां आर्य जाति की थीं। मिश्र में बहुतसी जगहों के नाम जैसे शील, नील और मेरु आदि भारतीय नामों की नकल है।

मि. पिकाक ने अपने "India in Greece" नामक ग्रन्थ में लिखा है "उत्तर पश्चिम हिन्दुस्थान तथा हिमालय के प्रान्तों

वीरों के नामों तथा कथाओं उत्सवों, में किस प्रकार की गहरी साम्यता है और एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। इसके बाद आपने यह सिद्ध किया है कि झोरेस्ट्रेरियन धर्म की मूल उत्पत्ति वैदिक धर्म से है और वैदिक काल के पीछे ब्राम्हण धर्म से मत-भेद होने के कारण यह त्यागा हुआ है। यही प्रोफेसर महोदय आगे चलकर कहते हैं कि हिन्दु और झोरेस्ट्रेरियन देवताओं के नामों की साम्यता उस समय पर प्रकाश डालती है, जब कि वह धार्मिक झगडा हुआ था जिसमें प्राचीन इरानी पारसी, ब्राम्हणों से जुदे हुए और उन्होंने अपने अलग धर्म की नीव डाली। यह बात उस समय हुई होगी जब ब्राम्हणों के मुख्य देवता इन्द्र माने जाते थे.

हिन्दू लोग इरान में कब जाकर बसे, इसका ठीक २ ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। हां, इधर उधर के बिखरे हुए प्रमाणों से कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है। प्राचीन पारसियों का पैगम्बर झोरास्टर हिन्दुओं के इरान में बस जाने के बाद उत्पन्न हुआ। व्यासजी ने इसके साथ तुर्कस्थान के बाल्क नगर में शास्त्रार्थ किया। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों समकालीन थे। सबसे पुराना ग्रीक लेखक झन्थस, जो ईसवी सन पूर्व ४७० वर्ष में हुआ, कहता है कि झोरास्टर ट्रोजन युद्ध के छः सौ वर्ष पहले हुआ, ट्रोजन युद्ध ईसवी सन के १८०० वर्ष पहले हुआ था. इस हिसाब से झोरास्टर का काल ईसवी सन पूर्व २४०० वर्ष के लगभग सिद्ध होता है। एरिस्टॉटल झोरास्टर का समय प्लेटो से पांच हजार वर्ष पहले बतलाता है। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि हजारों वर्षों के पहले हिन्दुओं का दल ईरान जाकर बसा था। इससे अगर इरान को प्राचीन हिन्दुओं का उपनिवेश कहें तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी।

जावा द्वीप ।

केवल मिश्र और ईरान ही क्या और भी कई देशों में हिन्दुओं ने उपनिवेश बसाये थे आजकल जिसे जावा कहते हैं वह शायद हमारा प्राचीन यवद्वीप नामक उपनिवेश है। रामायण में जावा का जिक्र करते हुए हमारे आदि कवि महर्षि बाल्मीकि लिखते हैं:—

यत्नवन्तो यवद्वीपः सप्तराज्योपशोभिताः ।
सुवर्ण रूप्यक द्वीप सुवर्णकर मण्डितम् ॥

यवद्वीप मतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः ।
ततो रक्त जलं प्राप्य शोणाख्यं शीघ्रवाहिनम् ॥

गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्ध चारण सेवितम् ।
पर्वतः प्रभवाः नद्यः सुभीम बहु निष्कराः ।
ततः समुद्र द्वीपांश्च सुभीमान्द्रष्टुमर्हथ ॥

यह महर्षि बाल्मीकि ने जावा द्वीप का वर्णन किया है. इससे मालूम होता है कि महर्षि वाल्मीकि के समय इस द्वीप का हाल भारतवासियों को मालूम था। अब यह देखना है कि भारतवासियों ने इसे अपना उपनिवेश कब बनाया। इसका कुछ ऐतिहासिक विवेचन करना आवश्यक था। "History of Indian shipping" के प्रख्यात् लेखक श्रीयुत राधाकमल मुकर्जी ने इस पर बड़ाही अन्वेषणात्मक प्रकाश डाला है। आपके कथन का सारांश यह है कि ईसवी सन ७५ के लगभग हिन्दुओं का एक जहाजी दल कालिंग देश से रवाना हुआ। वह साहस-पूर्वक आगे बढ़ता गया और जावा द्वीप में पहुंच गया। वहां इस साहसी दल ने अपना उपनिवेश बसाया। नगर और शहर

स्थापित किया था, जो अबतक जारी है, और जो ईसवी सन् ७८ से शुरू होता है। इस बातकी सच्चाई कई हिन्दू अवशेषों से, जो अबतक जावा में मौजूद हैं निःसन्देह सिद्ध होती है। इसके अलावा यद्यपि वहां की साधारण भाषा मलई (Malay) है पर, वहां के राजनैतिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों की और बहुत से शिला लेखों की पवित्र भाषा संस्कृत की एक शाखा है। इसके अतिरिक्त एक चीनी यात्री की डायरी से यह बात सिद्ध होती है, जिसने चौथी सदी के अन्त में जावा को हिन्दुओं से बसा हुआ पाया था। इसने लंका से सिलोन को, सिलोन से जावा को और जावा से चीन को समुद्रयात्रा की थी। इस समय जहाजों पर जो मल्लाह थे, वे हिन्दूधर्म का उपदेश करते थे।

जावा के उपनिवेश बसाने में सब से ज्यादा हिस्सा कलिंग देश ने लिया था, यह बात केवल जावा की कथाओं ही से सिद्ध नहीं होती है, पर बहुत से नामाङ्कित विद्वान् भी इस बातको स्वीकार करते हैं। क्राफर्ड साहब कहते हैं कि जावा में जो हिन्दू प्रभाव दीख पड़ता था, वह सब कलिंग देश का था। फर्ग्युसन साहब फर्माते हैं। "अनराधना में जो अवशेष (remains) मिलते हैं उनसे मालूम होता है कि बौद्धों ने पेगु, कम्बोडिया और जावा द्वीपों में उपनिवेश बसाये थे। J. F. Schellend साहब लिखते हैं:—

"पश्चिमीय जावा में जो वेर्जी के शिलालेख पाये जाते हैं, वे पांचवीं छटी शताब्दि के हैं और उनमें लिखे हुए कलिंग शब्द का अभिप्राय हिन्दुस्थान के उस भाग से है, जिससे कि पहले पहल हिन्दू लोग इस द्वीप में आकर बसे।"

जावा में 'अर्जुन विवाह' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ है। एल्फिन्स्टन साहब लिखते हैं कि जावा के प्राचीन कवियों ने

महाभारत के राजाओं, देशों और नायकों के नाम अपने यहां के ग्रन्थों में खूब भर दिये हैं। यही कारण है कि जावा के आदिम निवासी अब भी यही समझते हैं कि महाभारत का घोरयुद्ध जावा में हुवा था, भारतवर्ष में नहीं। जावा में हिन्दू और बौद्ध मंदिरों के कितने ही खण्डहर पाये जाते हैं। कुछ मन्दिरों के नाम ये हैं- चण्डी शिव, चण्डी विष्णु, चण्डी बुद्ध, चण्डी अर्जुन, चण्डी भीम, चण्डी घटोत्कच, चण्डी सरस्वती, चण्डी सूर्य. जावा की भाषा में चण्डी मंदिर को कहते हैं। जावा के कुछ पहाड़ों और नदियों के नाम भी सुन लीजिये. अर्जुन, सुमेरु, रावण, भगवन्ता, सरयू, प्रागा, वृन्दा, आदि।

जावा के प्राचीन इतिहास के अन्वेषकों ने पता लगाया है कि आदित्यधर्म नामक राजा ने जावा को पहले पहल भारतीय उपनिवेश बनाया। आदित्यधर्म हिन्दूमत का अनुयायी था। तदनंतर पूर्णवर्मा, शिवराग, पूर्ण प्रभु, श्रीनिनगर, जय श्री विष्णुवर्द्धिनी, हयवर्द्धन, अभ्रविनय और उदयन आदि राजाओं ने राज्य किया। जावा के राज्यों में माजोपहित नामक राज्य सबसे बड़ा हिन्दू राज्य था।

डॉक्टर कस्ट महोदय कहते हैं कि कई शताब्दियों के पहले ब्राम्हण लोगों ने अपना धर्म और सभ्यता यहां फैलाई।

चीन और जापान।

चीन में भी हिन्दुओं ने अपने उपनिवेश बसाये थे। भारत के कई क्षत्रियगण वहां जाकर बसे थे। कर्नल टाड साहब लिखते हैं। चीन के कुलाचार्य्य (genealogist) अपने आप को हिन्दू राजा पुरूरव के पुत्र "अयर" की सन्तान बतलाते हैं। सर डबल्यू जोन्स कहते हैं कि चीनी लोग अपनी मूल उत्पत्ति हिन्दुओं

से बतलाते हैं। चीन देश के Schuking नामक ग्रन्थ में जो कथाएं हैं, उनसे मालूम होता है कि चीनियों के पूर्वज फोही (Fohi) की अध्यक्षता में ईसवी सन् पूर्व २९०० वर्ष में पश्चिम देशों की उच्चभूमि से चीन के मैदानों में आये थे। इससे मालूम होता है कि चीन में बसनेवालों का मूल निवासं काशमीर और पंजाब आदि देश थे।

चीन का धर्म और सभ्यता का मूल भी भारत ही है। चीन के सुप्रसिद्ध पण्डित ओकाकरा (Okakura) का कथन है कि एक समय चीन के लोयांग नामक केवल एक ही प्रान्त में ३००० बौद्ध साधू और १०००० हिन्दू कुटुम्ब हैं ये लोग चीन की भूमि में अपने धर्म का प्रभाव फैलाते थे।

प्रोफेसर लेकॉनपेरी का कथन है कि ईसवी सन् के पूर्व ६८० वर्ष से चीन और हिन्दुस्थान का सम्बन्ध है। उस समय हिन्दी महासागर के हिन्दू व्यापारियों ने कियाचाऊ के आस पास लंका के नाम की नकल पर लंगा नामक उपनिवेश बसाया था।

ईसवी सन् ३९८ में बुद्धभद्र नामक एक सज्जन, जो शाक्य-वंश का था, उत्तर भारत के रास्ते से चीन पहुंचा था। सन् ४२० में संगवर्मा नाम के एक दूसरे सज्जन के चीन पहुंचने का उल्लेख है। सन् ४२४ में गुणवर्मा, जो काबुल के अवसर प्राप्त राजा का पौत्र था, चीन पहुंचा था। सन् ४३४ में बौद्ध धर्म के साध्वियों की एक जहाज चीन गया था। सन् ५२६ में दक्षिण भारत के राजा का पुत्र बौद्धिवर्मा दक्षिण चीन के राजा से निमन्त्रित किये जाने पर चीन गया था। सन् ४३८ में ८ बौद्ध भिक्षुक चीन गये थे। इस प्रकार के कई उदाहरण हैं, जिनसे यह पता चलता है कि जापान और भारत का सम्बन्ध था

चीनकी तरह प्राचीन काल में कई भारतवासी जापान भी जाकर बसे थे। जापान के पुराणों में कई भारतीय साधुओं के नाम मिलते हैं. जिन्होंने जापान जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया था। दक्षिण भारत का बौद्धधर्म नामक सज्जन. चीनमें अपना कार्य्य करने के बाद जापान आया था और यहां उसने प्रिन्स शोटाकू से मुलाकात की थी। मध्यभारत का शुभकर नाम का सज्जन भी चीन में होकर जापान पहुंचा था और वहां यमाटो नाम के प्रान्त के एक मन्दिर में बौद्धधर्म के मान ग्रन्थ छोड आया था। सुप्रसिद्ध बौद्ध उपदेशक बौद्धिसेन का जापान जाना तो प्रसिद्ध घटना है। यह सन ७३९ की बात है। यह जापान में जाकर बसा था। वहां के राज्य की ओर से इसका बडा सम्मान हुआ था और जापानी जनता इसे पूज्य दृष्टि से देखती थी। जापान केवल धर्म प्राप्ति ही के लिये भारत का कृतज्ञ नहीं है, वरन पूर्वकाल में उसने भारत से बहुत कुछ औद्योगिक सहायता भी प्राप्त की थी। जापान के सरकारी कागज पत्रों से यह सिद्ध होता है कि ग्यारह सौ वर्ष के पहले प्रथम ही प्रथम दो भारतीय प्रवासियों ने वहां रुई का बीज पहुंचाया था।

जापान की संस्कृति और सभ्यता पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता का बडा प्रभाव दीख पडता है। सुप्रसिद्ध जापानी विद्वान् मि० जे० टेकेकेसू लिखते हैं। "But I should like to emphasize the fact that the influence of India, material and intellectual must have much greater in an earlier period than we at present consider to have been the case" अर्थात् मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि प्राचीन काल में भारत का प्रभाव (जापान पर) जितना हम खयाल करते हैं, उससे बहुत बडा था।

इसके सिवा एक महत्वपूर्ण बात यह है कि जापान के हॉर्निजी मन्दिर (Hornizi temple) में कई शास्त्र बंगाली लिपि में लिखे हुए अब भी मौजूद हैं। ये पुराने शास्त्र हैं।

सुमात्रा।

सुमात्रा में भी भारतवासियों ने अपना उपनिवेश बसाया था। बम्बई गेझेटियर में लिखा है- " हिन्दुस्थान के पूर्व किनारों के लोगों ने जाकर इस द्वीप में बस्ती की था। इसके बाद बंगाल, ओरिसा, मच्छलीपटम के लोगों ने जावा, कम्बोडिया आदि द्वीप में उपनिवेश बसाने में विशेष हिस्सा लिया था। मि० एन्डरसन ने सुमात्रा में कितने ही हिन्दू मन्दिरों के अवशेष ढूंढ़ निकाले हैं। सन् १५१० में Albuquerque ने जावा में हिन्दुओं का बडा जोरशोर देखा था और इस समय परमेश्वर नामक हिन्दू राजा राज्य करता था।

यूनान।

पोकोक (Pococke) साहब ने अपनी पुस्तक में इस बात के प्रबल प्रमाण दिये हैं कि यूनान देश को भारत के निवासियों ने ही—मगध के हिन्दुओं ने ही—बसाया था। मगध देश की राजधानी का नाम प्राचीनकाल में राजगृह था। उसमें रहनेवाले गृहका कहलाते थे। इसी गृहका से ग्रीक शब्द बना है। बिहार देश का नाम पलाश्वा था। वहां से जो जनसमूह ग्रीस आकर बसा वह पलासगी (Pelasgi) कहलाया। और उस देश का नाम पेलासगो (Pelasgo) पड गया। एक प्रसिद्ध यूनानी कवि (Asius) के लेखानुसार यूनानियों का विख्यात राजा पेलासगस Pelasgus हिन्दुस्थान में, बिहार की प्राचीन राजधानी में उत्पन्न हुआ था। मेकडोनियन (Makedonian) और मेसेडन (Macedon)

शब्द मगध के अपभ्रंश हैं। मनुष्यों के कितने ही समूह मगध से जाकर यूनान में बसे और उसके प्रान्तों को पृथक् पृथक् नामसे पुकारने लगे। कैलासपर्वत का नाम यूनान में केनेन है और रोम में कोकिन है। क्षत्रियों की कई जातियों का यूनान में जाकर बसना सिद्ध होता है। यूनान के देवी-देवता भारतवर्ष के देवी देवताओं की नकल हैं। उस देश का धर्म विधान साहित्य और कलाशास्त्र भी हिन्दू जाति ही की चीज है। इस विषय में अधिक जानना हो तो पिकाक साहब की इन्डिया इन ग्रीस (India in Greece नामक पुस्तक देखिये।

रोम.

रोम शब्द शायद राम से बना है। एशिया मायनर में जो हिन्दू जाति जाकर बसी रोमवाले उसी की संतान हैं। रोम की समीप वर्तिनी युट्रेसियन जाति भी हिन्दू ही थी। रोम के देवी देवता भी हिन्दुस्थान के देवी देवताओं के प्रतिरूप हैं। म्योर साहब लिखते हैं कि जैसे हिन्दू मनुजी को मनुष्य जाति का आदि पुरुष मानते हैं वैसे ही जर्मनीवाले भी मानते हैं। अंगरेजी का मेन Man जर्मन और संस्कृत का मनु Menu एक ही चीज है। जर्मन का मेन्श (Mensch) संस्कृत के मनुष्य शब्द से मिलता जुलता है।

जर्मन शब्द संस्कृत के शर्मन का अपभ्रंश है। हिन्दुस्थान में शर्मन उपाधि ब्राम्हण सूचक है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतवर्ष के जो लोग जर्मनी में जाकर बसे थे वे ब्राम्हण थे। ब्राम्हणों की रीति रिवाजों से जर्मनीवालों की बहुत सी रीतियां मिलती हैं जैसे, प्रातःकाल उठकर स्नानकरना, लंबे बाल रखना, उनका जुडा बांधना, ढीला लबादा पहनना इत्यादि। स्नान

शीत प्रधान देश की प्रथा नहीं हो सकती। वह उष्ण देशकी ही प्रथा है। आर्यावर्त की उत्तरी पश्चिमी सीमाओं पर जो शक नाम की जाति रहती थी सेक्सन लोग उसकी संतान हैं। सेक्सन (Saxon) शब्द शक+सूनु से बना है। सूनु का अर्थ संतान है इसलिये सेक्सन का अर्थ शक की संतान होता है। जर्मन लोग स्वर्ग को उसी नामसे पुकारते हैं जिस से हिन्दू. कर्नल टाड लिखते हैं. कि जब इंग्लैण्ड और यूरप सेक्सन जाति के बडे २ गिरजों के चित्र उनकी कारीगरी और उनकी मूर्तियों को देखते हैं तब श्रीकृष्ण और गोपियों की याद आजाती है दोनों में साम्य दीख पडता है।

ग्रेट-ब्रिटन.

प्राचीन काल में ग्रेट-ब्रिटन ड्रूयूइड (Druid) नामका एक जनसमुदाय था वे लोग बौद्धमतावलंबी थे। वे जीव के आवागमन के सिद्धांतों को मानते थे। जीव के पूर्व जन्म और उसके निर्माण में उनका विश्वास था। त्रिमूर्ति में भी उनका विश्वास था। हिन्दूओं का विश्वास है कि ईश्वर एक रूप से जगत की उत्पत्ति करता है दूसरे रूप से उसकी रक्षा करता है तीसरे रूपसे उसका संहार करता है उन लोगों का भी यही विश्वास था उनकी संस्था पृथक ही थी और धार्मिक रहस्यों का मर्म बताना उनका काम था जैसे ब्राम्हण शाप देते हैं वैसे ही वे भी शाप देते थे। बडे २ राजा उनसे कांपते थे। ड्रूइड (Druid) शब्द द्रौपदे का अपभ्रंश है। द्रौपदे चंद्रवंश के द्रुपद राजा की संतान थे उनके पास चंद्रमा का चिन्ह रहता था. जब ब्रिटन पर रोम निवासियों ने आक्रमण किया तब ड्रूयूइड लोग सेन्ट अथवा मोना द्वीप में चले गये। मोना द्वीप का शुद्ध रूप मुनि-द्वीप है।

एक बार विष्णु भगवान के वाहन गरुड़ शाकद्वीप (ग्रेट-ब्रिटन) से द्विजातियों के किसी राजा को हिन्दुस्थान में उठा लाये थे. यह घटना उस देश में हिन्दू जाति के रहने का प्रमाण है। कोलब्रुक (Cole brooke) साहब की एक पुस्तक Mis-llaneous Essays और गाड फ्रेहिगिन्स (Codfreyhiggins) की भी एक पुस्तक (Celic-Duids) इस विषय में अवलोकनीय है।

स्कैन्डिनेविया.

इस देश के प्राचीन निवासी हिन्दू क्षत्रियों की संतान थे। संस्कृत शब्द स्कंधनाभी से स्कैंडिनेविया बना है। स्कंध का अर्थ सरदार या मुखिया अर्थात् क्षत्रिय है। अतएव क्षत्रिय और स्कैंडिनेविया का अर्थ एक ही है। इनकी एड्डा (Edda) नामक पुस्तक से पता चलता है कि गेटिसगजिटस (Getisoggits) लोग जो स्कैंडिनेविया वास-स्थान का नाम असिगढ (Asigord) था महात्मा ओडन (Oden) स्कैंडिनेविया में ईसा के ५०० वर्ष पहले आये थे। उनके उत्तराधिकारी का नाम गौतम था। यह वृतान्त बुद्ध के समय का विक्रम संवत् के ४७७ वर्ष और ईसवी सन के ६३३ वर्ष पहिले का है। इस देश के देवी देवताओं का वर्णन और इसकी वीर रसात्मक कविता हिन्दुओं की सी है। इन लोगों की प्राचीन पुस्तक का नाम एद है। एद शब्द वेद का अपभ्रंश मालूम होता है। हिन्दुस्थान और स्कैंडिनेविया के दिनों के नामों का अर्थ भी प्रायः एकसा है।

अमेरिका में हिन्दुओं की बस्ती।

अमेरिका में प्राचीन सभ्यता के चिन्हों पर दृष्टि डाली जाय तो मालूम होगा कि वहां यूरोपीय सभ्यता का प्रवेश होने के पहले

कोई सभ्य जाति अवश्य रहती थी। दक्षिण अमेरिका में बड़े २ नगरों के खंडहरों, दृढ़ कोटों, सुन्दर भवनों, जलाशयों, सड़कों, नहरों आदि के जो चिन्ह मिलते हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यहां कोई बड़ी उच्च श्रेणी की सभ्य जाति अवश्य रहती होगी। युरोपीय पुरावस्तुविद्या के जानकारों का कथन है कि ये सब भारतीय सभ्यता के चिन्ह हैं। मि. कोलेमन (Coleman) का कथन है—

"Baron Humbolt, the great German travellar and scientist describes the existence of Hindu remains still found in America अर्थात् जर्मनी के प्रवासी और विज्ञानवेत्ता बेरन हम्बोल्ट अमेरिका में मिलनेवाले कई हिन्दू अवशेषों के अस्तित्व का वर्णन करता है। पेरू की सामाजिक प्रथाओं का वर्णन करते हुए मि. पिकाक कहते हैं— "पेरू निवासियों की और उनके पूर्वज हिन्दुओं की सामाजिक प्रथाओं में समानता पाई जाती है।" प्राचीन अमेरिका की चित्रकला प्राचीन हिन्दुस्थान की चित्रकला से बहुत कुछ मिलती जुलती है। स्कायर महोदय का कथन है कि जैसे बौद्ध मत के स्तूप दक्षिण भारत और उसके उप द्वीपों में मिलते हैं, वैसे ही मध्य अमेरिका में भी पाये जाते हैं। डाक्टर जर्फु (Zerfu) कहते हैं कि हम अमेरिका में आर्य पद्धति से बने हुए मन्दिर किले आदि के अवशेष पाते हैं।

प्राचीन अमेरिका की सभ्यता का मूल प्राचीन भारत में था. इसके आश्चर्यकारक प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन अमेरिका के पुराणों (Mythology) से पता लगता है कि वे बहुत कुछ हिन्दू पुराणों के अनुकरण पर बने हैं। इस बात के बहुतसे सबूत मिलते हैं।

अमेरिकन पुराण देवता की हैसियत से हिन्दुओं की तरह पृथ्वी माता की पूजा करते हैं। देवताओं के तथा वीरों के पदों की पूजा अमेरिकन उसी ढंग से करते थे जिस प्रकार हिन्दू आजकल करते हैं, या पहले करते थे। मेक्सिकन लोग Quetzac lcoatte के पदों की पूजा उसी प्रकार करते थे, जैसे सिलोन में हिन्दू लोग बुद्ध भगवान के पदों की तथा गोकुल और मथुरा में श्रीकृष्ण के पदों की करते हैं। सूर्य और चन्द्र ग्रहण के लिये प्राचीन अमेरिकनों के वे ही विचार थे जोकि आधुनिक काल के हिन्दुओं के हैं. घण्टा, घडियाल, शंख आदि वाद्य यन्त्र हिन्दुस्थान में बजाये जाते हैं, वैसेही पहले अमेरिका में बजाये जाते थे। सूर्यचन्द्र का राहु केतु से ग्रसित होना आधुनिक हिन्दुओं की तरह प्राचीन अमेरिका निवासी भी मानते थे। वहां के पुजारी हिन्दू पुजारियों की तरह सर्प आदि के चिन्ह कण्ठ में धारण करते थे। हिन्दुस्थानी जिस प्रकार सूंडवाले गणेशजी की पूजा करते हैं, वैसे ही प्राचीन अमेरिकन सूंडवाले मनुष्य की पूजा करते थे। इसके लिये बेरन हम्बोल्ट कहते हैं—

It presents some remarkable resemblance with the Hindu Ganesh अर्थात् हिन्दू गणेश के साथ इसकी पूरी साम्यता है।"

जिस प्रकार हिन्दू धर्म ग्रंथों में प्रलय का वर्णन है वैसे ही उन लोगों के ग्रन्थों में भी है। हिन्दुओं की तरह प्राचीन अमेरिकावासी भी पृथ्वी को कच्छप की पीठपर ठहरी हुई मानते थे। सर्प की पूजा दोनों देशों में होती है। मेक्सिको में सूर्य के प्राचीन मंदिर हैं। जीव के आवागमन के सिद्धांत में भी हिन्दुओंकी तरह उनका विश्वास है। धार्मिक विषयों के अतिरिक्त सामाजिक

विषयों में भी बहुत कुछ समता दिखलाई देती है । इस प्रकार की कई समताएं इन दोनों देशों में दीख पडती हैं ।

अब यह सवाल उठता है कि प्राचीन काल में हिन्दू लोग अमेरिका कब जाकर बसे थे ? ऐतिहासिक प्रमाणों से मालूम होता है कि श्रीरामचन्द्र के बाद हिन्दू लोग अमेरिका गये होंगे । ऐतिहासिक कथाओं से जान पडता है कि महाभारत के युद्ध के बहुत पीछे तक हिन्दू अमेरिका जाया करते थे । रामचन्द्र और सीता की पूजा उनके असली नाम से वहां अबतक होती है । पेरू (Peru) में रामोत्सवनाम से रामलीला भी होती है । प्राचीन अमेरिका के पुराण कलाकौशल, तत्वज्ञान, कथाएं और रीति रिवाजों का मूल. कितने ही पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार भारतवर्ष में है । महाभारत में लिखा है कि अर्जुन ने पाताल (अमेरिका) देश को जीता और उस देश के कुरु राजा की कन्या उलुपी से विवाह किया था ।

प्राचीन काल में अमेरिका जाने के दो रास्ते थे । एक हिन्दुस्थान से लंका अथवा बंगाल की खाडी से जावा और बोर्नियो होते हुवे मेक्सिको, पेरू या मध्य अमेरिका तक चला गया था । दूसरा चीन मंगोलिया साईबेरिया और बेहरिंग के मुहाने से होकर उत्तरी अमेरिका तक गया था । इस समय जहां बेहरिंग का मुहाना (Behring strait) है वहां प्राचीन समय में जल न था । वह स्थान अमेरिका से मिला हुआ था । पीछे भौमिक परिवर्तन होने से वहां जल होगया । जैसे पहिले एशिया से आफ्रिका महाद्वीप स्थल मार्ग से मिला था उसी तरह अमेरिका देश भी मिला था । अब एशिया और ऑफ्रिका के बीच स्वेज नहर (Suez-Canel) और एशिया और अमेरिका के बीच बेहरिंग का मुहाना (Behring Strait) है ।

प्राचीन भारत और सौन्दर्य्यविज्ञान.

कितने ही सुप्रख्यात् पाश्चात्य पंडितों का मत है कि प्राचीन काल के भारतीय पंडितों ने सौन्दर्य विषय पर कुछ भी विचार नहीं किया। वे कहते हैं कि यद्यपि संस्कृत कवियों ने सौन्दर्य का अत्यन्त रसमय वर्णन किया है, पर इस विषय पर तात्विक दृष्टि से उन्होंने विचार नहीं किया। सौन्दर्य का मूल तत्व क्या है, मनुष्य को सौन्दर्य का बोध किस प्रकार होता है? सौन्दर्य ज्ञान की कोई विशिष्ट इंद्रिय है या नहीं, आदि प्रश्नोंका निर्णय कई पाश्चात्य पंडितों के मतानुसार भारतीय पंडितों ने नहीं किया। औरों की तो बात क्या पर संस्कृत साहित्य के संसार प्रख्यात् शार्मण्य पंडित भट्ट मोक्ष मुल्लर ने भी ऐसा मत प्रकाशित किया है। सुप्रसिद्ध जर्मन तत्वज्ञ हंबोल्ट जब सुव्यवस्थित विश्वरचना पर (Kosmas) अपना ग्रंथ लिख रहे थे, तब उन्होंने मोक्षमुल्लर साहब से पूछा कि विश्वरचना के सौन्दर्य के विषय पर संस्कृत साहित्य में कुछ सामग्री मिल सकती है या नहीं। इसका उत्तर देते हुए मोक्षमुल्लर साहब ने उन्हें लिखा था।

" The Idea of the beautiful in nature did not exist in the Hindu mind It is the same with their description of the human beauty. They describe what they saw, they praise certain features, they compare them with certain other

features in nature; but the beautiful as such does not exist for them: they never excelled either in sculpture or painting.........It is strange that the people so fond of the highest abstractions, as the Hindus, should never have summarised their perceptions of the beautiful " देखिये पाठक प्रोफेसर मोक्ष मुल्लर जैसे नामाङ्कित पाश्चात्य विद्वान् ने यह लिख मारा है कि हमारे भारतवर्ष में सौन्दर्य की कल्पना तक न थी। वे जो कुछ देखते थे उसीका वर्णन कर देते थे। प्रोफेसर मोक्षमुल्लर के मतानुसार हमने चित्रकला (Sculpture and Painting) में कभी श्रेष्ठत्व प्राप्त नहीं किया। हमें दुःख है कि प्रोफेसर मोक्षमुल्लर जैसे पण्डितों ने संस्कृत साहित्य का ऊपरी अवलोकन कर बिना विचार के निःशङ्करूप से उपरोक्त मत प्रकाशित कर दिया और उन्हींका अनुकरण, इस सम्बन्ध में, कितने ही पाश्चात्य पण्डितों ने किया। हम तो समझते हैं कि जिन्हें थोड़ा भी व्यवहार ज्ञान है, उन्हें मोक्षमुल्लर साहब का यह मत नहीं रुचेगा। क्योंकि भरतभूमि यह ललित कलाओं की जन्मभूमि है। ऐसी दशा में ललितकला का जीवन सौन्दर्य की भावनाओं का विकास हुए सिवा यहां ललित कलाओं का इतना उत्कृष्ट विकास किस प्रकार हो सकता है?

हमारा तो खास मत है कि मोक्षमुल्लर साहब ने इस विषय में भारी भूल की है। इस भूल का कारण शायद यह हो कि मोक्षमुल्लर साहब ने जितने तात्विक ग्रन्थ देखे, उनमें सौन्दर्य की तात्विक मीमांसा करनेवाला कोई ग्रन्थ उनकी नजर में न आया हो, और इसी से उन्होंने अपना यह अनात्मक मत निश्चित कर लिया हो। हां, हम यह स्वीकार करते हैं कि हमारे दर्शन शास्त्रों

में प्रधानतया पारमार्थिक विषयों का विचार किया गया है अतएव उनमें सौन्दर्य जैसे ऐहिक सुख के विषय का विचार नहीं किया गया है। सौन्दर्य का विवरण देखने के लिये हमें अन्यत्र दृष्टिक्षेप करना चाहिये। वेद, उपनिषद और दर्शन शास्त्रों में इस विषय का सांगोपांग विवेचन नहीं आया है। सौन्दर्य रसाश्रय से उत्पन्न होता है। सुन्दर वस्तु का अगर रस निकाल लिया जावे तो उसमें का सौन्दर्य अपने आप नष्ट होजाता है। जिन वस्तु में जिस तादाद से रसोद्दीपन शक्ति अधिक होगी, उसी तादाद से वह वस्तु अधिक सुन्दर दीखेगी। हां, उस रसका उस वस्तु में यथोचित संनिवेश होना चाहिये। इस रस का उगम व आधार प्रत्यक्ष भगवान् परमेश्वर है। सुन्दर वस्तु का अन्तरात्मा ही रसस्वरूप भगवान् है और भगवान् का सौन्दर्य विश्वव्यापी है। यह हमारे भारतीय पण्डितों के विचारों का मर्मांश है। ये विचार एक जगह शृंखलित रूप से नहीं लिखे हुए हैं। भिन्न २ ग्रन्थों से यह सार मधुमक्षिका का व्रत स्वीकार कर इकट्ठा करना पडता है। भगवान् की बों सुन्दर कृति यह ब्रम्हाण्ड–सुन्दर है। कठोपनिषद् में कहा है।

' तमेव भान्त मनुभाति सर्व
तस्य भासा सर्व मिदं विभाति ॥ "

इसका आशय यह है कि स्वयं प्रकाश भगवान् के प्रकाश ही से यह सर्व ब्रम्हांड प्रकाशमान् होरहा है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आदि सब उसी की प्रभा है।

ऋग्वेद में सृष्टि के अधिष्ठात्रा देवों के सौन्दर्य के अनेक वर्णन आये हैं। इसमें अग्नि के स्वरूप का, उषा का, इन्द्र का तथा आदित्य आदि के बडे ही मार्मिक विवेचन आये हैं। यह कैसे कहा जासकता है कि सौन्दर्य्य का रहस्य जाने बिना ही इन

प्रकार के वर्णन किये गये होंगे । मं० १, सू० १५४, ऋचा ४ और ५ में विष्णु का वर्णन किया गया है । यह वर्णन देवों की काल्पनिक मूर्तियों का याने एक प्रकार की जड वस्तुओं के सौन्दर्य्य का है । अमूर्त सौन्दर्य्य के विषय में भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं, और इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में भी रसात्मकता ही सच्चे कवित्व का बीज समझा जाता था । ऋग्-वेद में कहा है:—

इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् ।
रास्वाचनो अमृत मर्त भोजनंत्मने तोकाय तनयाय मूल ॥

अर्थात् रसयुक्त मधु घृत से भी अधिक मधुर और अतिशय हर्षजनक स्तुति वाक्य मरुद्गण के पिता ने रुद्र को सम्बोधित कर कहे । ऋग्वेद मं० ५ सू० १२, ऋ० ८ में भी इसी प्रकार रस-युक्त अर्थात् काव्यमय स्तुति का उल्लेख है ।

काव्य, सङ्गीत, शिल्प आदि भिन्न २ प्रकार से सौन्दर्य प्रकट होता है । इनमें काव्य का उदाहरण ऊपर दिया गया है । शिल्प और कला में भी प्रादुर्भूत होनेवाले सौन्दर्य्य का परिचय ऋग्वेद में मिलता है । ऋ० मं० २, सू० ८१, ऋ० ५ में मित्रा-वरुण राजा के सहस्र स्तंभयुक्त, सुदृढ और शोभायमान् प्रासाद का वर्णन है । मं० ४ सू० ३० ऋ० २० में पाषाण की बनी हुई सुन्दर नगरी का उल्लेख है मं. ७ सू. १५ ऋ. १४ में लोह निर्मित नगरीका उल्लेख है ।। मं० ७ सू० ३, ऋ० ७ में स्वर्ण नगरी का उल्लेख है । इसी प्रकार ऋग्वेद में कई प्रकार की कारी-गिरी का वर्णन है । इससे क्या यह बात सिद्ध नहीं होती कि वैदिक काल के ऋषियों को भी सौन्दर्य का कुछ ज्ञान था ।

मोक्षमुल्लर साहब कहते हैं कि संस्कृत साहित्य में केवल सौन्दर्य का वर्णन है। पर वे यह नहीं मानते कि संस्कृत के कवियों को सौन्दर्य का तत्व मालूम था। मोक्षमुल्लर साहब के मत का खण्डन नीचे लिखे हुए उपनिषदों के वाक्यों से होता है।

१ यद्वै तत् सुकृतं रसो वैसः। रसं ह्येवायं
लब्धानंदी भवति।

—(तैत्तरीयोपनिषद्)

२ तद्विज्ञानेन परि पश्यन्ति धीरो आनंद स्वरूपममृतं
यद्विभाति।

३ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वं विभाति।

—(मुण्डकोपनिषद्)

इस अन्तिम वाक्य का जो सिद्धान्त हमारे पूर्वजों ने चार पांच हजार वर्ष पहले अपने अलौकिक बुद्धि प्रभाव से आविष्कृत किये थे, वह हमारे अभिमानी पाश्चात्य विद्वानों को बीसवीं सदी तक मालूम नहीं हुआ था। सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता बोशांकेट महोदय ने दोनों तत्वज्ञों के विचारों का समन्वय करके हमारे भारतीय पूर्वजों के सिद्धान्तों का इस प्रकार समर्थन किया है:—

"Among the ancients the fundamental theory of the beautiful was convected with......... the general formula of unity in variety. Among the moderns we find that more emphasis is laid on the idea of significance, expressiveness, the uttarance of all that life contains; in general, on the conception of the characteristic. If these

प्रकार के वर्णन किये गये होंगे । मं० १, सू० १५४, ऋचा ४ और ५ में विष्णु का वर्णन किया गया है । यह वर्णन देवों की काल्पनिक मूर्तियों का याने एक प्रकार की जड वस्तुओं के सौन्दर्य्य का है । अमूर्त सौन्दर्य्य के विषय में भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं, और इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में भी रसात्मकता ही सच्चे कवित्व का बीज समझा जाता था । ऋग्वेद में कहा है:—

इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् ।
रास्वाचनो अमृत मर्त भोजंनत्मने तोकाय तनयाय मूल ॥

अर्थात् रसयुक्त मधु घृत से भी अधिक मधुर और अतिशय हर्षजनक स्तुति वाक्य मरुद्गण के पिता ने रुद्र को सम्बोधित कर कहे । ऋग्वेद मं० ९ सू० १३, ऋ० ८ में भी इसी प्रकार रसयुक्त अर्थात् काव्यमय स्तुति का उल्लेख है ।

काव्य, सङ्गीत, शिल्प आदि भिन्न २ प्रकार से सौन्दर्य प्रकट होता है । इनमें काव्य का उदाहरण ऊपर दिया गया है । शिल्प और कला में भी प्रादुर्भूत होनेवाले सौन्दर्य्य का परिचय ऋग्वेद में मिलता है । ऋ० मं० २, सू० ८१, ऋ० ५ में मित्रावरुण राजा के सहस्र स्तंभयुक्त, सुदृढ और शोभायमान् प्रासाद का वर्णन है । मं० ४ सू० ३० ऋ० २० में पाषाण की बनी हुई सुन्दर नगरी का उल्लेख है मं. ७ सू. १५ ऋ. १४ में लोह निर्मित नगरीका उल्लेख है ।। मं० ७ सू० ३, ऋ० ७ में स्वर्ण नगरी का उल्लेख है । इसी प्रकार ऋग्वेद में कई प्रकार की कारीगरी का वर्णन है । इससे क्या यह बात सिद्ध नहीं होती कि वैदिक काल के ऋषियों को भी सौन्दर्य का कुछ ज्ञान था ।

मोक्षमुल्लर साहब कहते हैं कि संस्कृत साहित्य में केवल सौन्दर्य का वर्णन है। पर वे यह नहीं मानते कि संस्कृत के कवियों को सौन्दर्य का तत्व मालूम था। मोक्षमुल्लर साहब के मत का खण्डन नीचे लिखे हुए उपनिषदों के वाक्यों से होता है।

१ यद्वै तत् सुकृतं रसौ वैसः। रसं ह्येवायं
लब्धानंदौ भवति।

—(तैत्तरीयोपनिषद्)

२ तद्विज्ञानेन परि पश्यन्ति धीरो आनंद स्वरूपममृतं
यद्विभाति।

३ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वं विभाति।

—(मुण्डकोपनिषद्)

इस अन्तिम वाक्य का जो सिद्धान्त हमारे पूर्वजों ने चार पांच हजार वर्ष पहले अपने अलौकिक बुद्धि प्रभाव से आविष्कृत किये थे, वह हमारे अभिमानी पाश्चात्य विद्वानों को बीसवीं सदी तक मालूम नहीं हुआ था। सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता बोसांकेट महोदय ने दोनों तत्वज्ञों के विचारों का समन्वय करके हमारे भारतीय पूर्वजों के सिद्धान्तों का इस प्रकार समर्थन किया है:—

"Among the ancients the fundamental theory of the beautiful was convected with......... the general formula of unity in variety. Among the moderns we find that more emphasis is laid on the idea of significance, expressiveness, the uttarance of all that life contains; in general, on the conception of the characteristic. If these

two elements are reduced to a common denomination there suggests itself a comprehensive definition of the beautiful viz "that which has characteristic or individual expressiveness, for sense perception or imagination, subject to the conditions of general or abstract expressiveness in the same medium" इसका सारांश यह है कि प्राचीन तत्वज्ञों के मतानुसार ध्वनि का श्रुति मधुर प्रवाह, अंगविन्यास व अंग प्रत्यंग की सुव्यवस्थित और सुसंबद्ध रचना पर सौन्दर्य अवलम्बित हैं। अगर थोड़े में कहा जाय तो यह कि बहुत्व में एकत्व का नाम सौन्दर्य है। पर आधुनिक तत्वज्ञों की दृष्टि में गूढ़ार्थ, व्यंजकता आदि वस्तु का स्वरूप व्यक्त करनेवाले धर्म में (characteristic) वह है। दोनों का समन्वय करने से सौन्दर्य की सच्ची व्याख्या की जासकती है। वह इस प्रकार हो सकती है कि वस्तु के अंग के गुणों के प्रकाशन पर अवलम्बित रहकर हमारी अनुभूति (sense-perception) या कल्पनाशक्ति के द्वारा जो प्रकट होता है, वह सौन्दर्य है।

प्रो० कॅरिट (Carrit) ने इस बातको जरा सहल ढङ्ग से लिखा है:—

"All beauty is the expression of what may be generally called emotion, and that all such expression is beautiful" अर्थात् अखिल सौन्दर्य हमारे हृदय के भावों (emotion) का आविष्करण है और इस प्रकार का आविष्करण ही सौन्दर्य है।

प्राचीन भारतवर्ष का नीतिशास्त्र।

जिस प्रकार हमारे प्राचीन भारत ने दर्शन शास्त्र, विज्ञान, राजनीति आदि में प्रख्याति प्राप्त की थी वैसे ही नीति सम्बन्धी कथाओं में भी की थी। हमारे नीतिशास्त्र में बहुत से महत्वपूर्ण विषयों का समावेश किया गया है। धर्मशास्त्र, राजधर्म, क्षत्रियधर्म, ज्ञानकांड, कर्मकांड उपासना व भक्तिमार्ग धर्म व लोक संस्थाएं आदि विषयों के साथ ही साथ वाग्विलास, सभा पाण्डित्य, इतिहास, भूगोल आदि अन्य उपयुक्त विषयों पर भी उसमें बहुत कुछ पाया जाता है।

कामन्दकीय नीतिशास्त्र।

कामन्दकीय नीतिशास्त्र नामक एक मौलिक ग्रंथ है जिसमें १९ अध्याय हैं। राजेंद्रलाल मित्र का मत है कि ईसवी सनकी चौथी सदी में जावाद्वीप में बसने के लिये जानेवार ऐसाही एक उत्तम ग्रंथ आर्य लोग अपने साथ ले गये थे। इसपर से यही सिद्ध होता है कि कामन्दकीय नीतिशास्त्र की रचना चौथी शताब्दि से एक दो शताब्दि पूर्व अवश्य ही हुई होगी।

पंचतंत्र, हितोपदेश और अन्य नीतिकाव्य।

पंचतंत्र की रचना विष्णु शर्मा नामक ब्राम्हण ने पांचवी शताब्दि में की थी। भर्तृहरि कृत नीतिशतक और वैराग्यशतक

सातवीं शताब्दि में रचे गये थे। भोजदेवने ग्यारहवीं सदी में सरस्वती कंठाभरण बनाया। हालकृत सप्त शतक, गोवर्धन कृत सप्तशति* श्रीहर्षदासकृत सदुक्ति कर्णामृत, शार्ङ्गधर पद्धति,× नारायण कृत हितोपदेश× आदि अनेक नीति ग्रंथ पाये जाते हैं।

उपर्युक्त ग्रंथों में पंचतंत्र और हितोपदेश सर्वश्रेठ हैं। ये ग्रंथ इतने उत्कृष्ट हैं कि पौर्वात्य और पाश्चात्य देशों की बहुतसी भाषाओं में उनका अनुवाद हो चुका है। भारतवर्ष के इसी कथामृत निर्झर को पाश्चात्य देशों में सतत प्रवाहित हो तत्रस्थ निवासियों की नीति जीवनकाल को हरी भरी और प्रफुल्लित करने का श्रेय प्राप्त है।

पंचतंत्र के अनुवाद।

ईरानके बादशाह अनुशीर्वाण के प्रसिद्ध मंत्री बुझर जुम्हेर ने छठी शताब्दि में पल्हवी भाषा में इस ग्रंथ का अनुवाद किया। यह बादशाह और उसके बाद होनेवाले सब शाहा इस ग्रंथ को अमूल्य रत्न मानते रहे हैं। इस ग्रंथ में कथित नीति-दीपक के प्रकाश की सहायता से उन्होंने अपने राजकीय, सामाजिक, धार्मिक और अपने निजी वर्ताव को सुसंस्कृत किया था। इसके खलीफा अबू-जाफरानिकी ने तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् इमाम हुसेन अबदुल मोकाफ से इस ग्रंथ को पल्हवी से अरबी में अनुवादित कराया। हिजरी सन ३८० में (दसवीं शताब्दि में) सुलतान महमद गिझनी ने इस ग्रंथ को पद्य में लिखा। हिजरी

* यह ग्रंथ १२ वीं सदी में रचा गया था। कवि बिहारीलाल ने इसी ग्रंथ के आधार से सतसई काव्य की रचना की है।

× ये ग्रंथ १४ वीं सदी में रचे गये थे।

सन् ९१९ में अरबी से इरानी भाषा में इस ग्रंथ का अनुवाद हुआ आजकल यह ग्रंथ " कालिन्द दमन " के नाम से उपलब्ध है।

अरबी भाषा का पद्यात्मक अनुवाद जटिल व दुर्बोध होजाने के कारण मुल्ला अलीहुसैन ने आधुनिक भाषा में उसकी रचना कर अमर सोहिली के नाम से प्रसिद्ध किया। इसकी सन् १००२ में जलालुद्दीन महंमद अकबर ने अपने विद्वान् वजीर अबुल फजल को यह ग्रंथ सुगम भाषा में लिखने की आज्ञा दी। इस ग्रन्थ का नाम " आचारदर्नाश " (ज्ञानोदधि) रक्खा गया था।

फ्रेञ्च भाषा में अनुवाद।

फारसी भाषा के " कालिल दमन " का अनुवाद सन १७०९ में फ्रेञ्चभाषा में किया गया। इस अनुवादित पुस्तक का नाम भारतीय ज्ञाननिष्ठ पिल्पेकृत नीति कथामृत सागर रक्खा गया था।

अंगरेजी में भाषान्तर।

तदनन्तर फ्रेञ्च भाषा से यह ग्रंथ अंगरेजी में लिखा गया। लोग इस ग्रन्थ पर इतने लट्टू होगये कि सन् १७७९ के साल में लगातार पांच आवृत्तियां निकालना पड़ीं।

तुर्की भाषा में अनुवाद।

सन् १५४० में अमर सोहिली का तुर्की भाषा में अनुवाद किया गया। अनुवादक अलीबेनसाले को सतत २० वर्ष तक परिश्रम करना पड़ा था। एम. कारडोन ने सन १७७८ में इसी ग्रंथ का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया। उसने अपने ग्रन्थ का नाम " विदपेकृत भारतीय नीतिसार " रखा था।

सातवीं शताब्दि में रचे गये थे। भोजदेवने ग्यारहवीं सदी में सरस्वती कंठाभरण बनाया। हालकृत सप्त शतक, गोवर्धन कृत सप्तशति* श्रीहर्षदासकृत सद्रुक्ति कर्णामृत, शार्ङ्गधर पद्धति,× नारायण कृत हितोपदेश× आदि अनेक नीति ग्रंथ पाये जाते हैं।

उपर्युक्त ग्रंथों में पंचतंत्र और हितोपदेश सर्वश्रेष्ठ हैं। ये ग्रंथ इतने उत्कृष्ट हैं कि पौर्वात्य और पाश्चात्य देशों की बहुतसी भाषाओं में उनका अनुवाद हो चुका है। भारतवर्ष के इसी कथामृत निर्झर को पाश्चात्य देशों में सतत प्रवाहित हो तत्रस्थ निवासियों की नीति जीवनकाल को हरी भरी और प्रफुल्लित करने का श्रेय प्राप्त है।

पंचतंत्र के अनुवाद।

ईरानके बादशाह अनुशीर्वाण के प्रसिद्ध मंत्री बुझर जुम्हेर ने छठी शताब्दि में पल्हवी भाषा में इस ग्रंथ का अनुवाद किया। यह बादशाह और उसके बाद होनेवाले सब शाहा इस ग्रंथ को अमूल्य रत्न मानते रहे हैं। इस ग्रंथ में कथित नीति-दीपक के प्रकाश की सहायता से उन्होंने अपने राजकीय, सामाजिक, धार्मिक और अपने निजी बर्ताव को सुसंस्कृत किया था। इसके खलीफा अबू-जाफरानिकी ने तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् इमाम हुसेन अबदुल मोकाफ से इस ग्रंथ को पल्हवी से अरबी में अनुवादित कराया। हिजरी सन ३८० में (दसवीं शताब्दि में) सुलतान महंमद गिझनी ने इस ग्रंथ को पद्य में लिखा। हिजरी

* यह ग्रंथ १२ वीं सदी में रचा गया था। कवि बिहारीलाल ने इसी ग्रंथ के आधार से सतसई काव्य की रचना की है।

× ये ग्रंथ १४ वीं सदी में रचे गये थे।

सन् ९१९ में अरबी से इरानी भाषा में इस ग्रंथ का अनुवाद हुआ आजकल यह ग्रंथ "कालिल दमन" के नाम से उपलब्ध है।

अरबी भाषा का पद्यात्मक अनुवाद जटिल व दुर्बोध होजाने के कारण मुलना अलीहुसेन ने आधुनिक भाषा में उसकी रचना कर अमर सोहिली के नाम से प्रसिद्ध किया। इसवी सन् १००२ में जलालुद्दीन महंमद अकबर ने अपने विद्वान् वजीर अबुल फजल को यह ग्रंथ सुगम भाषा में लिखने की आज्ञा दी। इस ग्रन्थ का नाम "आचरदनीश" (ज्ञानोदधि) रखा गया था।

फ्रेश्च भाषा में अनुवाद।

फारसी भाषा के "कालिल दमन" का अनुवाद सन १७०९ में फ्रेश्चभाषा में किया गया। इस अनुवादित पुस्तक का नाम भारतीय ज्ञानिष्ट पिल्पेकृत नीति कथामृत सागर रखा गया था।

अंगरेजी में भाषान्तर।

तदनन्तर फ्रेञ्च भाषा से यह ग्रंथ अंगरेजी में लिखा गया। लोग इस ग्रन्थ पर इतने लुब्ध होगये कि सन् १७७९ के साल में लगातार पांच आवृत्तियां निकालना पडीं।

तुर्की भाषा में अनुवाद।

सन् १५४० में अमर सोहिली का तुर्की भाषा में अनुवाद किया गया। अनुवादक अलीबेनसाले को सतत २० वर्ष तक परिश्रम करना पड़ा था। एम. कारडॉन ने सन १७७८ में इसी ग्रंथ का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया। उसने अपने ग्रन्थ का नाम "पिडपेकृत भारतीय नीतिसार" रखा था।

ऊपर के विवेचन से यही सिद्ध होता है कि भारतीय नीति सागर ही से पाश्चात्यों को नीतिज्ञान-रत्न प्राप्त हुआ है। पाश्चात्य विद्वान् भी इस बात को कबूल करते हैं। प्रोफेसर मोक्षमुलर साहब लिखते हैं—

"Even the study of fables owes its new life to India, from whence the various migrations of fables have been traced at various times and through channels from East to West. Buddhism is now known to be the principal source of our legends and paraleles."

प्राच्य कथा का पुराणत्व ।

ऋक् संहिता में सूर्य को गृध्र और श्येन की उपमा दी गई है। छान्दोग्योपानिषद् से इस बात का पता चलता है कि देवों ने पशु-रूप ग्रहण कर मनुष्यों के साथ आहार विहार किया है। यह सर्व प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने बंदर, मेष आदि का रूप ग्रहण किया था और मनुष्यों के सुख और बचाव के लिये ईश्वर ने मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह आदि अवतार धारण किये थे। इस विवेचन पर से हमारी कल्पित कथाओं का ऐतिहासिक पुराणत्व ध्यान में आजायगा।

प्राच्यकथा पर्यटन ।

प्राचीनकाल में भारतवर्ष चौदह विद्या और ६४ कलाओं का भण्डार था। सबसे पहले भारत की शास्त्रकला के रसास्वाद का अनुभव ईरान के शाह ने किया और तब यह कथौव धीरे २ अफगानिस्तान, ईरान, अरबस्तान, सीरिया पेलेस्टाइन, एशिया

माइनर में भी फैलगया। क्रिश्चियन धर्मग्रंथ बायबल में भी हस्तिदन्त, कपि, चंदन, केकी आदि संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश पाये जाते हैं। अब यह बात निर्विवाद सिद्ध होगई है कि भारतीय नीतिसागर के प्रवाह के लिये सीरिया, पेलेस्टाइन, एशिया माइनर, ईरान की खाडी लालसागर और भूमध्यसागर का मार्ग ही खुला था।

यूरोप में प्रवेश।

पंचतंत्र के नीति वैभव की कीर्ति पताका एशिया माइनर और भूमध्यसागर तक फड़कने लगी। उससे मोहित हो १५४० में तुर्कों ने अमर सोहिली का अपनी भाषा में अनुवाद कराया।

अमेरिका-प्रवास।

यूरोप की सब प्रधान भाषाओं में पंचतंत्र का अनुवाद होगया और सारे यूरोपखंड में भारतीय नीतिसागर के अमूल्य रत्नों की कीर्ति-ध्वजा अत्युच्च फहराने लगी। वहीं से अमेरिका में भी उसका प्रवेश हुआ।

कुछ पाश्चात्य पंडितों का मत है कि प्राच्य कथाओं में ग्रीक-गंध आती है परन्तु यह उनका भ्रम मात्र है। इतनाही नहीं, कुछ विद्वान् तो कुछ कारणों से, यह भी मानने को राजी नहीं कि इसाप नामक कोई ग्रीक व्यक्ति हुआ था। सर विलियम जोन्स के समान विद्वान् और परिश्रमी शोधक भी यह बात नहीं मानते।

पंचतंत्र का इतिहास।

जिस पंचतंत्र की धवल कीर्ति सारे जग में फैली हुई है, जिसके परिमल से संसार के सब सुधरे हुए राष्ट मंत्रमुग्ध सर्प की

[illegible] हैं जिसके उत्कृष्ट मकरंद का सब ने आस्वादन लिया है उसी ग्रंथ का संक्षिप्त इतिहास लिखकर यह भाग पूर्ण करेंगे।

ई० सन् से ५०० वर्ष में दाक्षिण देश में महिला रोप्य नामक नगरी में अमर शक्ति नामक राजा राज्य करता था। उसके वसुशक्ति, उग्रशक्ति और अनेकशक्ति नामक तीन पुत्र थे। ये तीनों ही मंदबुद्धि के थे जिससे राजा सदा उदास रहा करता था। वह अपने पुत्रों को विद्वान् बनाने के लिये सतत सप्रयत्न और चिन्तायुक्त रहा करता था। एक बार उसने अपने सब मंत्रियों और मित्रों को बुलाकर सलाह पूछी तब एक विद्वान् ने राजा से कहा कि ज्ञानार्जन और विद्या व्यासंग बहुत कठिन है। कारण व्याकरण के अध्ययन मात्र के लिए ही १२ वर्ष आवश्यक हैं। तदनन्तर धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि का यथा सांग सम्यक् अध्ययन करना जरूरी है। कारण धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, और कामशास्त्र में निपुणता प्राप्त किये बिना व्यवहार प्राप्त होना संभव नहीं।

अंत में बहुत कुछ वादविवाद के बाद राजपुत्रों को शिक्षा देने के लिये विष्णुशर्मा नामक विद्वान् पंडित की नियुक्ती की गई। उसने पंचतंत्र की रचना कर थोडे ही समय में उन राजपुत्रों को निपुण बना दिया।

हिन्दू धर्म के नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व।

नीतिशास्त्र के मूलतत्व हिन्दू ग्रन्थों में इधर उधर बिखरे हुए [illegible] हैं। वेद, महाभारत, रामायण पुराण, तंत्र आदि में [illegible] दिग्दर्शन पाया जाता है। ये तत्व हिन्दूओं

की नस २ में भर गये हैं । यही कारण है कि मुसलमान आदि पर धर्मियों के जुल्म जोर का उनपर कुछ भी असर न पड़ा । इतना ही नहीं हिन्दुओं की निष्ठा और उनका नीतिश्रेष्ठत्व भाव भी पूर्वका सा बना है ।

विभक्त थी—पदाति, अश्व, गज और रथ। और यही कारण है कि तत्कालीन सेना को चतुरंगदल कहते थे। आधुनिक काल में हाथी फौज में शामिल नहीं किया जाता। इसी पर से आजकल फौज को "थ्री आर्म्स" संज्ञा दी गई है। प्राचीन काल में हाथी फौज का एक मुख्य अंग माना जाता था। अन्य लोग भारत के हाथियों से बहुत डरते थे। केवल सिकंदर ही अपने कौशल से हाथियों को भगा सका था। तथापि कई सदियों तक—तोपों का आविष्कार होने तक—हाथियों को फौज में शामिल होने का सम्मान मिलता रहा है। सेल्यूकस ने युद्ध में हारकर चंद्रगुप्त को अपनी पुत्री ब्याह दी थी और उसने चंद्रगुप्त से ५०० हाथी लिये थे। पर्शियन बादशाह भी रोम लोगों के विरुद्ध हाथियों का उपयोग किया करते थे। हाथियों ही के कारण तैमूरलंग ने तुर्की के सुलतान बजाजत को हराया था। इसी युद्ध में हाथी अंतिम बार शामिल किये गए थे। इसके बाद तोपों ने हाथी का स्थान ग्रहण कर लिया।

सैनिकों को वक्तपर वेतन दिया जाता था। उस जमाने में वेतन कुछ धान्य और कुछ सिक्के के रूप में देने की चाल थी। अनाज राज्य के कोठों में से दिया जाता था। नारद ने युधिष्ठिर को उपदेश देते समय कहा है—

> कच्चिद्बलस्य भक्तंच, वेतनंच यथोचितम्।
> सम्प्राप्त काले दातव्यं ददासिन विकर्षसि॥
>
> —(सभापर्व ५ वां अध्याय)

समय पर वेतन न देने से सिपाही बिगड खड़े होते हैं और तब बड़ा अनर्थ होता है। सेंधिया, होल्कर, भोंसला आदि

को इस नियम का उल्लंघन करने के कारण अनेकों कष्ट उठाना पड़े हैं । इस बात का अंदाज लगाना असंभवसा है कि प्राचीन काल में सिपाही को कितना वेतन मिलता था क्योंकि धान्य तब सिपाहियों को वेतन में दिया जाता था । इसके अलावा युद्ध में मरे हुए सिपाही के कुटुम्ब का पालन पोषण करना उत्तम राजाका कर्तव्य समझा जाता था ।

कच्चिद्दारान् मनुष्याणाम् तवार्थे मृत्युमीयुषां ।
व्यसनं चाभ्युपेतानाम् बिभर्षि भरतर्षभ ॥

प्रत्येक दस सिपाहियों पर एक, सौ सिपाहियों पर एक और प्रति हजार सिपाहियों पर एक २ अधिकारी नियत थे ।

शांतिपर्व अध्याय १०० में लिखा है—

दशाधिपतयः कार्याः शताधि पतयस्तथा ।
ततः सहस्राधिपतिं कुर्यात् शूरमतंद्रितम् ॥

और ऐसी व्यवस्था होना असंभव भी नहीं है । इसी प्रकार की व्यवस्था अब भी जारी है । एक हजार योद्धा का अधिपति आजकल के दर्जे का होता था और राजा उसे मान देता था ।

कच्चिद्बलस्य ते मुख्याः सर्वे युद्ध विशारदाः ।
धृष्टावदाता विक्रान्ताः त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥

भिन्न २ चार अंगों पर भिन्न २ चार अधिकारी होते थे । इसके अलावा सारी फौज का एक मुख्य सेनापति रहा करता था । सेनापति का धृष्ट, शूर, बुद्धिमान् शुचि, कुलीन, अनुरक्त और दक्ष होना अनिवार्य था । शांतिपर्व में लिखा है कि सेनापति का व्यूहरचना, यंत्र और आयुधकला में पारंगत होना

आवश्यक है । उसमें वर्षा, शीत और उष्णता सहने की शक्ति होना चाहिये और शत्रु के छिद्रों को जानने की कला अवगत हो (शांतिपर्व अ. ८३-१३)

चतुरंगदल के सिवाय फौज में चार और मुख्य भाग रहा करते थे विष्टि (ट्रांसपोर्ट) नौका, गुप्तचर और देशिक ।

सब प्रकार के सामान को ढोने के लिये विष्टि-विभाग की योजना थी । अति प्राचीन काल में भी इस विभाग को महत्व दिया जाता था । नौका में समुद्र तथा नदी पर की नौकाओं का समावेश होता है । पूर्व काल में नौकायुद्ध भी बार २ हुआ करते थे । समुद्र तटवर्ती राष्ट्र बड़ी २ नौकाओं का (अर्णवपोतो) का उपयोग करते थे । गुप्त भेदों का पता लगाना गुप्तचरों का काम था । पता नहीं चलता कि देशिक विभाग के जिम्मे क्या काम था ? इसका वर्णन ही दिया गया है । तथापि अनुमान किया जाता है कि स्काउट्स या समय २ पर आगे जाकर रास्ता दिखाने और शत्रु की हाल चाल बताने का काम इस विभाग के जिम्मे होगा । फौज के आठ अंग नीचे के श्लोक में बताये गये हैं ।

रथा नागा हयश्चैव पादाताश्चैव पांडव ।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमः ॥

—(शान्तिपर्व अ० ५९)

पैदल और सवार ।

पैदल सेना ढाल और तलवार का उपयोग करती थी । इनके अलावा प्रास (भाला), परशु (फरसा या कुल्हाडी) भिंडी-

पाल, तोमर ऋष्टी और शुक्लनामक अस्त्र भी पैदल सेना के हथियार थे। छोटी तलवार को खड्ग संज्ञा दी गई है। शक्तिवान् पुरुष ही गदा का उपयोग करते थे। पैदल सेना इसे काम में न लाती थी। यह आयुध द्वंद युद्ध के समय उपयोग में लाया जाता था। बलवान् क्षत्रियं ही गदा धारण करते थे। सवार तलवार और भाला रखते थे। भाला लम्बा ज्यादा होता था। शल्यपर्व में गांधार राज की प्रास से लडनेवाली सैन्य का वर्णन करते हुए लिखा है:—

अनीकं देश साहस्त्र मश्वानां भरतर्षभ।
आसीद्गांधार राजस्य विशाल प्रास योधिनाम॥

—(अ० २३)

घुडसवार भाले से लडते २ इतने नजदीक आजाते थे कि उन्हें तलवार का उपयोग करना पडता था। इस पर्व में घुड़सवारों की लडाई का अच्छा खाका खींचा गया है। सब सवारों के पास कवच नहीं होते थे और न पैदल फौज ही कवच (जिरह बख्तर) पहनती थी। कवच वजनदार होते हैं और उनकी कीमत भी ज्यादा लगती है। तथापि कवचधारी पैदल सेना का वर्णन भी पाया जाता है। रथी और गजपर बैठनेवाले योद्धा कवच का अवश्य उपयोग करते थे। रथी और सारथी के लिए तो कवच पहनना आवश्यक सा था। कारण अधिकांश में इन्हीं पर बाण छोडे जाते थ। रथी और गज पर आरूढ होनेवाले वीर बडे २ क्षत्रिय हुआ करते थे। अतएव मूल्यवान् कवच का उपयोग करना उनके लिए संभव था।

गांधार, सिंधु व सौवीर देशों की अश्व सेना प्रसिद्ध थी। और इन देशों में अब भी उत्तम घोडे पाए जाते हैं।

इन देशों के घुडसवार तीक्ष्ण भालों को काम में लाते थे। उशीनर लोग सर्व प्रकार के युद्ध में निपुण थे। पूर्वी देशों के लोग गज-युद्ध में दक्ष होते थे। हिमालय और विंध्याचल के जंगलों में अब भी हाथी पाये जाते हैं। अतः मगध आदि प्राच्य देशों का मातंग—युद्ध निपुण होना स्वभाविक ही है। मथुरा के लोग बाहु-युद्ध में सर्व श्रेष्ठ थे। दक्षिण भारत के वीर असिकला कुशल थे। अब भी मराठे वीर इस काम के लिये प्रसिद्ध हैं।

हाथी।

हाथी की प्रचण्ड शक्ति और आज्ञा धारकता के ही कारण उसे सेना में महत्व का स्थान मिला था। हाथी की सूंड नाजुक होती है। अतः गंडस्थल से सूंड के सिरे तक सारी सूंड पर जिरह बख्तर पहनाया जाता था। उसके पैर पर भी कवच बांधते थे। हाथी शत्रु को क्षति पहुंचाते थे। परन्तु उनसे अपने पक्ष की सेना कभी नाश होने की संभावना नहीं रहती थी। बहुत से मल्ल हाथी के पेट के नीचे घुसकर मार घूसों के उसे कायल कर डालते थे। भीम, भगदंत आदि इस काम में निपुण थे। अब भी देशी संस्थानों में इस प्रकार के गजयुद्ध होते देखे जाते हैं।

हाथी पर महावत और युद्ध करनेवाला धनुष्यबाण, शक्ति और बरछी का उपयोग करता था। गज सैन्य कभी २ हार जाती थी। गजों को घबराकर लौटालने पर या तो उसका समूल नाश किया जासकता था या हाथी अपनी सेना को कुचलकर नष्ट कर डालते थे। सिकंदर ने अपने कौशल से गजसेना को हराया था। उसके पैदल सिपाहियों ने पहले महावतों को बाणसे मार गिराया और तब कवचधारी सैनिक अपनी २ लम्बी टेढी तलवारें ले हाथी

की सूंड काटने लगे । इस मारकाट में घबराकर हाथी पीछे लौट-पडे और अपनी सेना को कुचलते हुए भाग निकले ।

रथी और धनुषबाण ।

भारत में रथी अजिक्य योद्धा माना जाता था । आजकल तो धनुषबाण और रथ नामशेष होगए । बंदूक और गोलियों ने धनुष्यबाण का स्थान ग्रहण कर लिया है । परन्तु प्राचीनकाल में धनुष्यबाण ही दूर से शत्रु को मारने का एक मात्र अस्त्र था । उस जमाने में सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों में धनुषबाण का नंबर पहला था । अस्त्रों में शक्तियां, बरछी और चक्र बडे तेजस्वी और घातक थे । शक्ति से चक्र ज्यादा लम्बा होता था । सिख अब भी चक्र का उपयोग करते हैं । परंतु चक्र से धनुषबाण की शक्ति अधिक है । धनुष के जोर से बाण एक मील तक फेंका जासकता है । प्राचीन काल में धनुष्यबाण की विद्या बहुत ऊंचे दर्जे को पहुंच गई थी । एक बार फेंकने पर चक्र पुनः वांपस हाथ में नहीं आसकता और न मनुष्य ज्यादा चक्र ही हाथ में रख सकता है । परंतु पांच पचीस बाण तो सहज ही हाथ में रखे जासकते हैं और गाडियों में भरकर साथ बाण रखे जासकते हैं इसी से धनुष-बाणधारी योद्धा के लिये रथ में बैठना अनिवार्य्य सा था । ग्रीक लोग भी, प्राचीन काल में, युद्ध में रथ का उपयोग करते थे । मिश्र, असेरिया और बेबिलोन निवासी भी अति प्राचीन काल में रथ रखते थे ।-परशियन लोग रथ के पहियों पर छुरी लगाते थे। अस्तु ।

सिकंदर के समय तक भारत में रथ का उपयोग होता रहा है । ग्रीक लोगों के ग्रंथों में लिखा है कि भारतवासी सर्व श्रेष्ठ धनु-र्धारी थे और अनुमान किया जाता है कि अन्य लोगों के रथों से

भारतीयों के रथ बहुत बड़े होते थे। ग्रीक लोगों के ग्रंथों से पता चलता है कि भारतवासियों के धनुष्य मनुष्य के सिर की बराबर ऊंचे होते थे और उनके बाणों की लंबाई तीन २ फीट तक होती थी। ऐसे भारी धनुष्य की प्रत्यंचा चढ़ा बाण छोड़नेवाले वीरों की भुजाओं में बहुत ज्यादा ताकत का होना जरूरी था।

ग्रीक काल में भारतवर्ष की धनुष्यबाण की कला बहुतकुछ घटगई तोभी तत्कालीन योद्धाओं के हस्तलाघव और शक्ति को देखकर ग्रीकलोग आश्चर्य सागर में मग्न होजाते थे। लोहे की मोटी २ चद्दरें भी बाणों से सहज ही छेदी जासकती थीं। भारतवर्ष के अंतिम धनुर्वीर पृथ्वीराज ने लोहे के तवों को बाणों से भेदा था।

अचूक निशाना मारने में निपुण होने के लिए सतत अभ्यास की जरूरत होती थी। सहज गुण, सतत अभ्यास और उत्तम गुरु के बिना सर्व श्रेष्ट धनुर्धारी होना संभव नहीं। इन्हीं तीनों के योग से सव्यसाची अर्जुन श्रेष्ट धनुर्वीर हुए थे। आदि पर्व अध्याय १३२ में लिखा है:—

तदभ्यासकृतं मत्वा, रात्रावपिस पाण्डवः
योग्यांचक्रे महाबाहुर्धनुषा पण्डुनंदनः॥

सतत अभ्यास से ही कार्यसिद्धि होती है, ऐसा जानकर ही अर्जुन ने रात को भी तीर चलाने का अभ्यास किया था।

धनुर्धारी वीर रथ के योग से दशगुना शक्तिशाली हो जाता है। पैदल एक मनुष्य के वजन के बराबर बाण अपने साथ रखसकता है परन्तु रथ में चाहे जितने बाण भरे जासकते हैं। पैदल अपना स्थान नहीं बदल सकता परन्तु रथी रथ के वेग से शीघ्र

की सूंड काटने लगे । इस मारकाट मे घबराकर हाथी पीछे लौट-पडे और अपनी सेना को कुचलते हुए भाग निकले ।

रथी और धनुषबाण ।

भारत में रथी अजिक्य योद्धा माना जाता था । आजकल तो धनुषबाण और रथ नामशेष होगए । बंदूक और गोलियों ने धनुष्यबाण का स्थान ग्रहण कर लिया है । परन्तु प्राचीनकाल में धनुष्यबाण ही दूर से शत्रु को मारने का एक मात्र अस्त्र था । उस जमाने में सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों में धनुषबाण का नंबर पहला था । अस्त्रों में शक्तियां, बरछी और चक्र बड़े तेजस्वी और घातक थे । शक्ति से चक्र ज्यादा लम्बा होता था । सिख अब भी चक्र का उपयोग करते हैं । परंतु चक्र से धनुषबाण की शक्ति अधिक है । धनुष के जोर से बाण एक मील तक फेंका जासकता है । प्राचीन काल में धनुष्यबाण की विद्या बहुत ऊंचे दर्जे को पहुंच गई थी । एक बार फेंकने पर चक्र पुनः वापस हाथ में नहीं आसकता और न मनुष्य ज्यादा चक्र ही हाथ में रख सकता है । परंतु पांच पचीस बाण तो सहज ही हाथ में रखे जासकते हैं और गाडियों में भरकर साथ बाण रखे जासकते हैं इसी से धनुष-बाणधारी योद्धा के लिये रथ में बैठना अनिवार्य्य सा था । ग्रीक लोग भी, प्राचीन काल में, युद्ध में रथ का उपयोग करते थे । मिश्र, असेरिया और बेबिलोन निवासी भी अति प्राचीन काल में रथ रखते थे ।-परशियन लोग रथ के पहियों पर छुरी लगाते थे । अस्तु ।

सिकंदर के समय तक भारत में रथ का उपयोग होता रहा है । ग्रीक लोगों के ग्रंथों में लिखा है कि भारतवासी सर्व श्रेष्ठ धनुर्धारी थे और अनुमान किया जाता है कि अन्य लोगों के रथों से

भारतीयों के रथ बहुत बडे होते थे। ग्रीक लोगों के ग्रंथों से पता चलता है कि भारतवासियों के धनुष्य मनुष्य के सिर की बराबर ऊंचे होते थे और उनके बाणों की लंबाई तीन २ फीट तक होती थी। ऐसे भारी धनुष्य की प्रत्यंचा चढा बाण छोडनेवाले वीरों की भुजाओं में बहुत ज्यादा ताकत का होना जरूरी था।

ग्रीक काल में भारतवर्ष की धनुष्यबाण की कला बहुतकुछ घटगई तोभी तत्कालीन योद्धाओं के हस्तलाघव और शक्ति को देखकर ग्रीकलोग आश्चर्य सागर में मग्न होजाते थे। लोहे की मोटी २ चद्दरें भी बाणों से सहज ही छेदी जासकती थीं। भारतवर्ष के अंतिम धनुर्वीर पृथ्वीराज ने लोहे के तवों को बाणों से भेदा था।

अचूक निशाना मारने में निपुण होने के लिए सतत अभ्यास की जरूरत होती थी। सहज गुण, सतत अभ्यास और उत्तम गुरु के बिना सर्व श्रेष्ठ धनुर्धारी होना संभव नहीं। इन्हीं तीनों के योग से सव्यसाची अर्जुन श्रेष्ठ धनुर्वीर हुए थे। आदि पर्व अध्याय १३२ में लिखा है:—

तदभ्यासकृतं मत्वा, रात्रावपिस पाण्डवः
योग्यांचक्रे महाबाहुर्धनुषा पण्डुनंदनः॥

सतत अभ्यास से ही कार्यसिद्धि होती है, ऐसा जानकर ही अर्जुन ने रात को भी तीर चलाने का अभ्यास किया था।

धनुर्धारी वीर रथ के योग से दशगुना शक्तिशाली हो जाता है। पैदल एक मनुष्य के वजन के बराबर बाण अपने साथ रखसकता है परन्तु रथ में चाहे जितने बाण भर जासकते हैं। पैदल अपना स्थान नहीं बदल सकता परन्तु रथी रथ के वेग से शीघ्र

ही बदलकर मार की जगह जाडटता है। रथ के वेग से निशाना चूक जाता है अतएव दौडते हुए रथ पर निशाना मारने का भी अभ्यास करना पडता है। इसके अलावा सारथी और घोडों पर भी शत्रु वाण छोडता है अतः रथ में बैठनेवाला योद्धा ज्यादा ताकतवाला होता है तो भी उसपर बडी भारी जिम्मेदारी भी रहती है। पूर्वकाल में आजकल के तोपखाने की तरह रथों का उपयोग होता था। आधुनिक तोपखाने की तरह भिन्न २ मार के स्थान पर रथ लेजाना पडते थे और बारूद गोली की तरह बाणों की गाडियां भी साथ रखना पडती थीं। कर्ण पर्व में लिखा है कि अश्वत्थामा ने अपने साथ बाण से भरी सात गाडियां भेजने की आज्ञा दी थी। एक स्थान पर लिखा है अश्वत्थामा ने तीन घंटे में आठ बैल से खींची जानेवाली शस्त्र शस्त्रास्त्रों से भरी हुई आठ गाडियां खाली कर डालीं थीं। इस पर से यह जाहिर होता है कि आजकल के तोपखाने की तरह रथियों को बाण पुराना अत्यावश्यक था।

अस्त्र।

रथी ही अस्त्रों का उपयोग किया करते थे। धनुष्य की प्रत्यंचा पर बाण चढाकर मंत्र पढने से वे दैवी शक्तियुत हो जाते थे। मंत्र के बल से अस्त्र या पदार्थ अग्नि, वायु, बिजली, वर्षा आदि रूप धारण कर शत्रु सेना नष्ट कर डालते थे। इन अस्त्रों को अग्निअस्त्र, वायुअस्त्र आदि नाम थे। ये दैविक मंत्र बहुधा बाणों पर ही पढे जाते थे तथापि कभी २ अन्य पदार्थ भी मंत्र पढकर छोडे जाते थे। भगदत्त ने अंकुशपर वैष्णवास्त्र का मंत्र जपा था। युद्ध के बाद अश्वत्थामा गंगातट पर व्यास के पास बैठा था। पांडव उसका पीछा करते हुए उसे मारने के लिये वहां

आपहुंचे, तब उसने दर्भ हाथ में ले ब्रम्हाशिरा नामक अस्त्र का मंत्र जपकर उन पर फेंका। सारांश यह कि अस्त्र के लिए धनुष्यबाण की जरूरत नहीं। तथापि धनुर्वेद में लिखाहुवा उस अस्त्र का मंत्र शुद्धान्तःकरण से कभी २ जल हाथ में ले पढना पडता था। इन अस्त्रों के प्रयोग से भयंकर अग्नि आग आदि उत्पन्न हो जाती थी। अस्त्र की योजना में चार भाग होते थे। मंत्र, उपचार, प्रयोग और संहार। संहार शब्द से यह पता चलता है कि अस्त्र का प्रयोग करनेवाले में उसको वापिस लौटालेने की शक्ति भी होती थी। धनुर्वेद में अन्य शास्त्रों के वर्णन के साथ ही साथ अस्त्रों का भी यथासांग वर्णन किया गया था। उस जमाने में प्रत्येक क्षत्रिय के लिए धनुर्विद्या का अभ्यास करना अनिवार्य्य था। गुरु से ही अस्त्रों के प्रयोग और संहार की रीति सीखना पडती थी। ब्राम्हणों को ही वेद पढाने का अधिकार था। अतःवेही प्रयोग और संहार प्रत्यक्ष अनुभव से सिखाते थे। ऊपर लिखे अस्त्र काल्पनिक थे या सच्चे इसका निश्चय करना संभव नहीं। मंत्र अद्‌भुत शक्तिशाली हो सकते हैं तथापि दो चार मुद्दों पर कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा। अस्त्रविद्या और धनुर्विद्या अलग २ हैं। अस्त्रविद्या मंत्रविद्या है और धनुर्विद्या मानवी विद्या। धनुर्विद्या में प्रावीण्य प्राप्त करने के लिए सतत अभ्यास और परिश्रम की आवश्यकता होती थी परन्तु अस्त्रविद्या गुरु की कृपा से अति शीघ्र प्राप्त होसकती थी। अर्जुन ने महादेव से पाशुपतास्त्र उनके प्रसाद के बलसे चट प्राप्त कर लिया था। सारांश में अस्त्रविद्या दैवी विद्या थी। अस्त्र का उपयोग उन्हीं लोगों पर करने का नियम था, जो उससे परिचित हों। अनस्त्रविद् लोगों पर अस्त्रों का उपयोग करना धर्मयुद्ध के नियमों के विरुद्ध था। द्रोण ने क्रोधावेग में आ एक बार इस नियम का उल्लंघन किया था। द्रोणपर्व अध्याय १९० में लिखा है:—

ब्रम्हास्त्रेण त्वया दग्धा, अनस्त्रज्ञा नरा भुवि।
यदेतदीदृशं कर्म कृतं विप्र न साधु तत्॥

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अस्त्रों का उपयोग हमेशा करने का नियम था।

वैदिक मंत्र प्रसंग आने पर जलदी याद भी न आते थे। कर्ण कठिन समय आ पडने पर ब्रम्हास्त्र भूल गया। श्रीकृष्ण की मृत्यु के बाद अर्जुन को दस्यु युद्ध के समय अस्त्र याद न आये। इससे यही सिद्ध होता है कि दैवी शक्तिवाले अस्त्र मान लेने पर भी यह मानना पडेगा कि युद्ध के बाद वे बहुत कम काम में आते थे।

सिकंदर के समय के रथ-युद्ध।

महाभारत में अस्त्र-युद्धों के सिवा स्थान स्थान पर रथ-युद्धों का भी वर्णन किया गया है। शान्तिपर्व अध्याय १०० में नियम दिये गए हैं कि रथी को कब और कहां युद्ध करना चाहिये। जिस वक्त वर्षा से जमीन गीली न हो तब समतल भूमि पर अश्व सेना और रथ का अधिक उपयोग होता है। यह नियम अनुभव सिद्ध है। नीचे ग्रीक लोगों द्वारा लिखित रथ-युद्ध का वर्णन दिया जाता है। कर्टिस रूफस नामक इतिहास लेखक ने सिकंदर और पोरस की लडाई का वर्णन करते हुए लिखा है:—

"लडाई छिडने के पहले पानी बरस रहा था परन्तु कुछ देर बाद आकाश निरभ्र हो गया। पोरस राजा ने सौरथ और चार हजार घोडे ग्रीक लोगों का सामना करने के लिए भेजे। इस टुकडी का बल दारोमदार रथों पर था। रथ को चार घोडे जोते हुए थे और प्रत्येक रथ में छः योद्धा बैठे हुए थे। उनमें से दो

रथों में ढाल लिये खडे थे । दो दोनों ओर धनुष्य लिये खडे थे और दो सारथी थे । जब घमासान युद्ध मच जाता था और हाताहाई का मौका आता था, तब सारथी भी भालों का उपयोग करते थे: वे भालों का उपयोग करते थे । परन्तु इन तेज रथों से कुछ भी लाभ न हुआ । कारण वर्षा से जमीन गीली हो गई थी जिससे घोडे दौड नहीं सकते थे और रथ के चाक भी कीचड में गडते थे । रथ भारी भी थे अतएव घोडे उन्हें खींच भी नहीं सकते थे । इधर पोरस की सेना तो इस प्रकार फस रही थी और उधर से सिकंदर ने उस पर हमला किया । सिकंदर की सेना के पास शस्त्रों का ज्यादा वजन भी न था । राजा ने भी अपनी अश्वरोही सेना को धावा करने का हुक्म दिया । इधर रथ भी पूर्ण वेग से सेना में घुस गये । परंतु इससे कुछ भी लाभ न हुआ । कारण मुर्दोंपर से रथ ले जाने और ऊंची नीची जमीन होने से बहुत से सारथी रथ से नीचे गिर पडे थे । कई रथ नदी में गिर गए और बहुत से गड्ढों में गिरकर चकनाचूर हो गये । शेष शत्रु के बाणों की मार न सहकर पीछे हट गये " ।

ऊपर के विवेचन पर से पाठकों को रथ-युद्ध की कल्पना हो जायगी और उन्हें यह भी मालूम हो जायगा कि युद्ध में रथ का कितना उपयोग होता था । महाभारत के समय से लगाकर ग्रीक लोगों के जमाने तक रथों के युद्ध की पद्धति में फर्क पड गया था । महाभारत में सैकडों रथों का युद्ध में एक स्थान पर एकत्रित होना लिखा है । प्रत्येक रथी अलग २ लडते थे । वे बहुत दूर के दूर से ही लडते थे । युद्धक्षेत्र के भिन्न २ भागों पर घूम घूम कर बाण चलाना ही रथी का एक मात्र काम था । प्रत्येक रथ में एक ही धनुर्धारी और एक ही सारथी रहा करता था । रथ में चार

घोडे जोते जाते थे। ग्रीक इतिहास लेखक के लिखे अनुसार दो योद्धा और दो सारथी रथ में न बैठते थे। रथी की रक्षा के लिए ढाल-वालों का होना भी जरूरी न था। रथ के दोनों ओर दो चक्र रक्षक होते थे। रथ की दोनों ओर शत्रु के हमले को रोकने के लिए पहियों के पास एक २ रथ रहता था। उनमें के धनुर्धारियों को चक्र रक्षक कहते थे। भारतीय युद्ध के जमाने में रथ हमला करने के काम में न आते थे।

अपंका गर्त रहिता रथभूमिः प्रशस्यते ।
रथाश्व बहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥

रथ चलाने के लिए कीचड और गड्ढे रहित सूखी जमीन योग्य है। रथ और अश्वारोहीयुत सेना उसी रोज युद्ध में प्रवृत्त हो जब पानी न बरसे।

पदाति नाग बहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते ।
गुणानेता प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् ॥

—(शांतिपर्व अध्याय १००)

महाभारत में दिये हुए नियम युद्ध शास्त्र के अनुभव से प्राप्त आधार पर रचे गये हैं। तत्कालीन नीतिशास्त्र में भी यही नियम दिये गए हैं। इन नियमों का उल्लंघन करने से ही पोरस को हारना पडा। महाभारत के जमाने में ही रथ-युद्ध पदाति खराब होगई थी। तथापि महाभारत के उक्त वाक्यों से तो यही सिद्ध होता है कि जहां मल्लयुद्ध न होता हो वहां रथ अश्व या गज-

रथ वर्णन।

रथ में हमेशा चार घोडे जोते जाते थे। वे उत्तम प्रकार से अलंकृत किये जाते थे। घोडे भी बहुमूल्य सुन्दर अलंकारों से सजाये जाते थे। सब अलंकार सोने और चांदी के बने होते थे। रथों पर मंदिरों के शिखरों के समान शिखर होते थे, जिन पर ध्वजाएं फडका करती थीं। प्रत्येक वीर की ध्वजा का रंग अलग २ होता था और पताकाओं पर के चिन्ह भी भिन्न होते थे। इन्हीं चिन्हों से दूर से भी रथ पहचाने जा सकते थे। द्रोण पर्व के २३ वें अध्याय में भिन्न २ रथों और ध्वजाओं का वर्णन है। भीम के रथ के घोडों का रंग काला था और वे बहुमूल्य स्वर्णालंकारों से सुशोभित थे। नकुल के रथ के घोडे कम्बोज देश के थे। उनके कपाल, स्कंध, छाती और पीठ विशाल तथा गर्दन और शरीर लम्बे थे परन्तु उनकी वृषण छोटी होती थी। द्रोण का रथ कृष्णार्जुनयुत ध्वजा और स्वर्ण कमंडलु से सुशोभित था। भीमसेन की ध्वजा पर प्रचण्ड सिंह अंकित था। कर्ण की ध्वजा पर हाथी की सांखल का चिन्ह था। युधिष्ठिर की ध्वजा ग्रहगणसहित चन्द्रमा के समान सुशोभित थी। इसके अलावा एक ढोल या दो मृदंग भी रहा करते थे। रथ की गति के साथ ही साथ वे भी बजने लगते थे।

मृदंगौ चात्र विपुलौ दिव्यौ नन्दोपनन्दनम्।
यंत्रेणाहन्यमानौच सुस्वनौ हर्ष वर्धनौ॥

योद्धा मृदंग या ढोल के नाद पर मस्त हो लडते थे। पाश्चात्य देशों में यह बात अब भी पाई जाती है। हायलेंडर लोगों की सेना के साथ पार्श्व या रणसहनाई बजती थी और ये सहनाईवाले युद्ध में जखमी होजाने पर भी बजाते रहने

ही में वीरता मानते थे। इस उदाहरण से यही सिद्ध होता है कि लडते समय सुस्वर रणवाद्यों की मस्त करनेवाली ध्वनि की जरूरत रहती थी। रथ बहुत बडे होते थे। स्थान २ पर रथों के लिये 'नगराकार' विशेषण उपयोग किया गया है। रथों में त्रिशूल बाण शक्ति आदि प्रसंगोपयोगी अन्य शस्त्र भरे रहते थे। रथी जिरह बख्तर पहने रहता था। अंगुलियों की रक्षा के लिये गोह चमडे के मोजे के समान आवरण (गोधांगुलित्राण) हाथों में पहनता था। सारथी भी कवच पहनता था। महाभारत के जमाने में रथ को दोही पहिये होते थे। द्रोणपर्व अ० १५४ के आरंभ में प्रश्न रूप में लिखा है "द्रोण के रथ के दाएं पहिये (एक वचन) और बांएं पहिये (एक वचन) का रक्षक कौन है। प्राचीन काल के अन्य देशों के रथी के चित्र उपलब्ध हैं उनमें रथ के दोही पहिये हैं। बाबिलोनिया खासिक, असीरिया, इजिप्त ग्रीस आदि देशों के रथों को दोही पहिये होते थे। तथापि चार पहिये के रथ भी अवश्य रहे होंगे। घटोत्कच के रथ के आठ पहिये थे। घटोत्कच का रथ चार सौ हाथ का था। उसमें घुंघरू लगे थे और लाल रंग की पताका फडकती थी। वह रथ चार सौ हाथ रीछ की खाल के आवरण से ढका रहता था। उसमें अनेक शस्त्रास्त्र भरे थे। रथ के आठ पहिये थे। बलवान १०० घोडे इस रथ को खींचते थे। लाल सिर के भयंकर गृध्र पक्षी के चिन्ह से अंकित अद्भुत ध्वजा उस रथ पर फडकती रहती थी। [illegible] बारह हाथ लम्बा था [illegible] एक हाथ भर था। इस विवेचन पर से [illegible] की कल्पना की जा सकती है। [illegible] पर [illegible] रहते थे या [illegible] पर अंकित रहते थे। [illegible] नहीं कह सकते। कभी २ रथ में

दो सारथी भी रहा करते थे और उसे पार्ष्णि सारथी कहते थे। एक सारथी के मर जाने पर दूसरा रथ हांकने लग जाता था।

साधारण रथों को दोही पहिए होते थे। अर्जुन आदि वीरों के रथ भी दोही दोहीं पहिए युत थे। कर्ण पर्व अ. ५२ में अर्जुन और संशप्तक के युद्ध के वर्णन में निम्न लिखित श्लोक पाया जाता है।

> तेऽर्जुनस्य रथ चक्रे च रथेषां चापि मारिष।
> निगृहीतुं मुपाक्रामन् क्रोधाविष्टाः समन्ततः ॥

इस श्लोक में "रथचक्रे" लिखा है। संस्कृत में द्विवचन स्वतंत्र है अतः हिन्दी भाषा के समान संदेह नहीं रह पाता। कर्ण के रथ को भी दोही पहिये थे। द्रोण पर्व अ. १८९ में लिखा है—

> एकचक्रं च कर्णस्य धर्मज स महाबलः।
> एकचक्रं रथं तस्य तमूहुः सुचिरं हयाः ॥
> एक चक्र मिवार्कस्य रथं सप्तहयाइव ॥ २४ ॥

इस श्लोक पर से भी यही सिद्ध होता है कि कर्ण के रथ के भी दोहीं पहियें थे परन्तु इन रथों में बहुत से आयुध और सामान भरा जाता था। अनेक वर्णनों में पहिये तो दोही लिखे गये हैं पर घोडे चार। कारण घोडों के लिये कहीं द्विवचन का उपयोग नहीं किया गया। इसके सिवा स्थलों में भी घोडे के लिए चार वस्तुएं वर्णित हैं। निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि ये घोडे एक के पास एक एक ही कतार में या दो आगे और दो पीछे जोडे जाते थे। पाश्चात्य देशों के पुराने चित्रों में तो घोडे एक ही कतार में जोडे हुए अंकित हैं। परन्तु

वर्णन में दो धुरियों का वर्णन है। विराट् पर्व अ. ४२ में लिखा है—

दक्षिणां यो धुरंयुक्तः सुग्रीव सदृशो हयः।
योयं धुरं धुर्यवहो वामं वहति शोभनः
तं मन्ये मेघ पुष्पस्य जवेन सदृशं हयम्॥ २१॥

योयं कांचन सन्नाहः पार्ष्णि वहति शोभनः।
समं शैब्दस्य तं मन्ये जवेन बल वत्तरम्॥ २२॥

योयं वहति मे पार्ष्णि दक्षिणा मभितः स्थितः।
बलाहकादपि गतः सजने दीर्घ वत्तरः॥ २३॥

टीकाकार लिखते हैं—

पुरः स्थितयोरश्वयोः पृष्ठभागं पाश्चात्य युगं पार्ष्णिमिति।

इस श्लोक और टीका से भी पूर्णबोध नहीं होता। पार्ष्णि शब्द यहां भी संदिग्ध ही है। श्रीकृष्ण के रथ का वर्णन करते हुए सौप्तिक अध्याय १३ में लिखा है—

दाक्षिणा मवहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यचतो भवत्।
पार्ष्णिवाहोतु तस्यास्तां मेघपुष्प बलाहकौ॥

यहां भी फिर वही शंका रह जाती है। अतः यह प्रश्न अनिश्चित ही छोडना पडता है।

नीचे के अवतरणों से यह तो निश्चत होजाता है कि रथों को दोही पहिए होते थे।

व्यगृण्हन्दानवा घोरा रथचक्रेच भारत।

सूर्यचक्र प्रकाशाभ्यां चक्राभ्यां समलंकृतम्।

---(उद्योगपर्व अ. ८३)

इन श्लोकों पर से भी यही सिद्ध होता है कि रथ के दोही हिये होते थे। साधारणतः रथों के चार पहियों का होना माना जाना भूल भरा है। इसके सिवा

" द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि "

से भी यही सिद्ध होता है। रथ के भिन्न २ अवयवों के नाम भी दिये गए हैं परन्तु उनकी कल्पना नहीं हो सकती।

युराभिषां वरूथंच तथैव ध्वज सारथी।
अश्वास्त्रिवेणु तल्पंच तिल शोत्यव्ध मत्सरैः॥

—(वनपर्व २४२)

गिरि कूबर पादाक्षं शुभवेणु त्रिवेणुमन्

—(वनपर्व २४२)

युग, ईषा, कूबर, अक्ष, त्रिवेणु, ध्वज, छत्र, वरूथ, बंधुर व पताका रथों के अंग हैं। तथापि इन अवयवों की कुछ भी कल्पना नहीं की जासकती। युद्ध वर्णन में " ध्वजयष्टि समालम्ब्य " जैसा वर्णन वार २ आता है. बाणों से घायल होने पर योद्धा ध्वज यष्टि का सहारा लेता था, ताकि रथ से नीचे न आगिरे। इस से तो यही सिद्ध होता है कि यह यष्टि रथ में भीतर ही होती थी। परन्तु यह कल्पना नहीं की जा सकती कि यह ध्वज यष्टि कैसी होती थी।

रथियों का द्वंद्वयुद्ध।

महाभारत में बार २ रथ युद्धों का वर्णन पाया जाता है। रथों के द्वंद्वयुद्ध ही अक्सर ज्यादा हुआ करते थे। द्वन्द युद्धों के वर्णन काल्पनिक नहीं हैं। प्राचीन काल में यह नियम था कि दोनों ओर की सेना के अधिपतियों को आगे बढकर लडना चाहिये। आजकल के समान सेनापति के सेना के पीछे रहने का नियम न था। सेनापति स्वयं युद्ध करते थे। रथी ही सेनापति हुआ करते थे, अतः रथ के द्वन्दयुद्ध ही अक्सर ज्यादा हुआ करते थे। द्वन्द्व के समय कभी २ सैनिक युद्ध बंद कर उसे देखने लग जाते थे। ऐसे समय पर धर्मयुद्ध के नियमानुसार उन वीरों को दूसरा कोई सहायता न देता था। महाभारत में कर्णार्जुन का द्वन्दयुद्ध विशेष प्रसिद्ध है। रथ के युद्धों में सारथियों को भी विशेष मान था। सम विषम भूमि देखकर सावधानी से रथ हांकना, मार की जगह पर शीघ्रता से रथ ले जाना, रथी को वारंवार प्रोत्साहन देना आदि काम सारथी को ही करना पडते थे। दो रथों के युद्ध में रथ एक स्थान पर स्थित नहीं रहते थे। निशाना चुकाने के लिए रथ इधर उधर चलाए जाते थे। कल्पना नहीं कर सकते कि ये रथ द्वन्द युद्ध में किस प्रकार चलाए जाते थे। अर्जुन से द्वंदयुद्ध करते कर्ण के रथका पहिया गढे में गिरगया तब कर्ण उसे निकालने लगा। इस वर्णन पर से यह अनुमान निकलता है कि शायद रथ मंडलाकर घूमते थे।

धर्मयुद्ध के नियम।

कुछ बाण एक बालिश्त लम्बे होते थे। इन बाणों का उपयोग शत्रु के पास आने पर ही किया जाता था। कुछ बाणों के फर चंद्राकार होते थे। इन बाणों का उपयोग सिर काटकर

उडाने के लिये किया जाता था। बाणों के फर विषयुक्त भी होते थे। धर्मयुद्ध में विषयुत बाणों का उपयोग करना मना था। आधुनिक काल में भी फटनेवाली गोलियां (Expanding Bullets) का उपयोग करना नियम विरुद्ध है। धर्म और दया के तत्व पर ही इन नियमों की रचना की गई थी। कई बाणों पर कर्णी (उलटे सिरे के-फंदेदार) होते थे। शरीर में घुसे हुए बाण को खींचने से जखम बढ जाता था। कारण उलटा सिरा होने से वह शरीर को चीरता हुआ बाहर आता था। धर्मयुद्ध में इन बाणों का उपयोग करना भी मना था। महाभारत में बाणों की दस गति का वर्णन है। सीधे, टेढे, गोल आदि। महाभारत के जमाने में धनुर्विद्या बहुत ऊंचे दर्जे को पहुंच गई थी तोभी बाणों का वर्तुलाकार गमन संभवनीय नहीं मालूम होता। बाणों के सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि वे अपना काम कर चलानेवाले के पास वापस लौट आते थे। परन्तु यह तो अतिशयोक्ति मालूम होती है। संभव है कि बाण फोडकर शरीर में प्रवेश कर जाय, तो भी वीरों की भिन्न २ गति के कारण बहुत कम बाण कवच फोडकर शरीर में घुसते होंगे। जिससे उन्हें बहुत से बाण चलाना पडते होंगे।

धर्मयुद्ध में यह नियम था कि रथी रथी से, घुडसवार, घुडसवार से और पैदल पैदल से लडें। सवार के लिये पैदल पर हमला करना मना था। यह भी नियम था कि दोनों योद्धाओं के शस्त्र एकसे हों। दुःखाकुल शत्रु पर आघात करना नियम विरुद्ध था। भयभीत, हारे हुए और लडाई में पीठ दिखानेवाले पर वार करना कतई बंद था। शस्त्रहीन, जिसका शस्त्र टूट गया हो, जिसका कवच गिर पडा हो ऐसे योद्धा और वाहन

पर प्रहार न करने का नियम प्रचलित था । जख्मी शत्रु की शुश्रूषा करना, या उसे घर पहुंचा देना चाहिए । जख्मी शत्रुके चगा हो जाने पर छोड़ देने का नियम था । आधुनिक पाश्चात्य देशों में ये नियम अब भी पाले जाते हैं ।

राजा को धर्मयुद्ध के नियमों का कभी उल्लंघन न करना चाहिये । शान्ति पर्व के अध्याय ९५ में लिखा है कि प्राणों पर आ बीतने पर भी राजा को नियमोल्लंघन न करना चाहिये । परन्तु महाभारत के काल में यह नियम बदलगया ।

निक्षिप्त शस्त्रे पतिते विमुक्त कवच ध्वजे ।
द्रवमाणेच भीतेच तव चास्मीति वादिनी ॥
स्त्रियां स्त्री नाम धेयेच विकले चैक पुत्रिणी ।
अप्रशस्ते नरे चैव न युद्ध रोचते मम ॥

ये वचन भीष्म के हैं । सोये हुए, तृषित, थके हुए कवच निकालते हुए, खाते, पीते और ग्राम आदि लाते हुए व्यक्ति पर शस्त्र प्रयोग न करना चाहिए । परन्तु महाभारत के समय में इन विषयों के स्थान पर कूट युद्ध के नियम जारी हो गए थे । भारतीय आर्यों के धर्मयुद्ध का वर्णन करते हुए ग्रीक लोगों ने लिखा है कि सैनिक फसल को हानि नहीं पहुंचाते थे । युद्ध के समय भी कृषक अपना काम निर्विघ्न कर सकते थे । युद्ध के दिनों में प्रजा को कुछ भी कष्ट नहीं होने पाता था ।

कूटयुद्ध ।

शांतिपर्व अध्याय ६९ में कूटयुद्ध के नियम दिये गए हैं । राजा को प्रथम अपने मुख्य दुर्ग का आश्रय लेना चाहिये । गांव उजाडे जायं । देहाती लोग मुख्य २ शहरों में रखे जायं ।

धनवान लोग किलों में रखे जायँ और उनकी रक्षा के लिये सिपाही तैनात किये जायँ जो माल असबाब साथ लेजाते न बने वह जलादिया जाय। पुल और रास्ते नष्ट कर दिये जायँ। जलाशय के बान्ध तोड दिये जायँ या उनमें विष डाल दिया जायँ। किले के आस पास का जंगल काट डाला जाय। बडे २ वृक्षों की टहानियां काट दी जायँ, परन्तु आवश्यक वृक्ष का पात्त तक न तोडा जाय। देवालय के पास के वृक्ष भी छोड दिये जांय। किले पर शत्रु की हालचाल देखने के लिये ऊंचे २ स्थान बनाये जायँ। मारके लिये छिद्र बनाए जांय। खंदकों में पानी भर दिया जाय और अंदर गुप्त किले ठोक दिये जायँ किले और शहर से बाहर जाने के लिये गुप्त मार्ग बनाये जायँ। किले के दरवाजे पर यंत्र लगाये जायँ और शतघ्नी लगा दी जायँ। शतघ्नी क्या थी कह नहीं सकते। कुछ विद्वानों का मत है कि ये तोपें थीं (वर्णन पर से पाया जाता है कि शतघ्नी के पहिये होते थे। तथापि कहीं २ यह भी लिखा है कि वे हाथ में रहती थीं। प्राचीन काल के वर्णन को देखते हुए हमारी समझ से ये तोपें न थीं) किले में इंधन जमा किया जाय। नवीन कुएं बनाये जायँ और पुराने दुरुस्त किये जायँ। घास फूस से छाये हुए घरों पर गीली मट्टी छाबदी जाय। रात को अन्न पकाया जाय। अग्निहोत्र के सिवा दिन में आग कभी न बाली जाय। जो आग जलावे उसे दंड दिया जाय। भिखारी गाडीवाले, नपुंसक, उन्मत्त व पागल शहर से बाहर निकाल दिये जायँ। शस्त्रागार, यंत्रागार, अश्वशाला, गजशाला, सैन्यों का वसतिस्थान और खंदक पर सख्त पहरा रखा जाय।

स्वराज्य-रक्षण के नियमों के साथ ही साथ शत्रु के राज्य को उध्वस्त करने के नियम भी लिखे गये हैं। ये नियम

भयंकर है। आग लगाना, विषप्रयोग करना, छापा मारना, डाका डालना और जंगली लोग भेजकर राज्य उध्वस्त कराने के नियम प्रचलित थे। लूटकर गांव जलाना, पानी में विष डालना, किसानों की फसल उजाडना, शत्रुकी फौज के हाथी मस्त करना, शत्रु की सेना में बलवा खडा कराना कूट युद्ध के नियम थे। ग्रीक लोगों के संसर्ग से ही ये नियम भारत में प्रचलित हो गये थे। प्राचीन आर्यों के जमाने में क्षत्रिय ही युद्ध में प्रवृत्त होते थे। प्रजा को कोई कष्ट न पहुंचाता था। पराभव होने पर भी राज्य खालसा करनेका नियम न था। इसलिये देश उध्वस्तकर राज्य को शक्तिहीन बनाने की कुछ जरूरत भासित न होती थी। सिकंदर के जमाने में किसी प्रकार शत्रु को जीतना ही एक मात्र उद्देश था, जिसकी पूर्ति के लिये अन्याय करने में कमी कसर न रखी जाती थी। भारतीयों ने ग्रीकों की देखा देखी इन नियमों का अनुकरण करना सीख लिया था। मुसलमानों के जमाने में तो लाखों निरपराधियों की हत्या करना हंसी खेलसा हो गया था।

> अयुध्य मानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता।
> ब्रम्ह वित्तस्य चादानं निःशेष करणं तथा॥
> स्त्रिया मोषः पतिस्थानं दस्युश्चेत द्विगर्हतम्।
> संश्लेषंच परस्त्रीभि र्दस्यु रेतानि वर्जयेत्॥

—(शांतिपर्व १३४-१७)

ग्रीक लोगों के इतिहास से पता चलता है कि वे अपने लोगों से भी ऐसा ही बर्ताव करते थे। भारतीयों के साथ भी वे ऐसा ही बर्ताव करते थे, परन्तु भारतीय लोग युद्ध में निंद्य कर्म न करते थे। कारण उनके यहां लिखा है कि दस्यु को

भी ऐसा आचरण न करना चाहिये। संभवतः म्लेच्छों को ही दस्यु नाम दिया गया है। दस्यु के गुणों के वर्णन में एक स्थान पर लिखा है।

दस्यूनाम् सुलभा सेना रौद्र कर्मसु भारत।

विमानोंद्वारा हमला।

द्वारका पर शाल्व राजा ने चढ़ाई की थी। उसने नगर घेर लिया। तदनंतर विमान पर चढ़कर आकाश से द्वारका पर बाण और पत्थर बरसाए। जर्मनों ने भी इंग्लैण्ड पर आकाश से गोले बरसाए थे। द्वारका में शत्रु का सामना करने के लिये क्या २ तैयारियां की गई थीं उनका वर्णन वनपर्व के १५ वें अध्याय में किया है।

द्वारका में स्थान २ पर तोपें और यंत्र लगाये गए थे। किले के बुरुजों पर तटबंदी की गई थी। शत्रु की तोपों के गोलों का नाश के लिये शक्ति संज्ञक आयुध बनाए गए थे। अग्नि पैदा करनेवाले पदार्थ भरे हुए गोले बरसाने के लिये श्रृंगाकार यंत्र भी द्वारका में थे। सैनिक स्थान २ पर शत्रु पर प्रहार करने के लिए तैयार खड़े थे। नगर में ढिंढोरा पिटवाया गया था कि कोई असावधान न रहे और न शराब पीवे। द्वारका में रहनेवाले आनर्त देशवासी नट-नर्तक, गवई आदि शहर से निकाल दिये गए थे। नावों का आवागमन रोक दिया गया था। राजा का अनुमतिपत्र (पासपोर्ट) लिए बिना कोई नगर में प्रवेश न कर पाता था। सेना को आयुध, द्रव्य और इनाम बांटे गए थे। सेना का वेतन बाकी न था। शाल्व ने नगर के चारों ओर घेरा डाला और तब वह सौभ में बैठ

को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाने को "टॅकिक्स" कहते हैं। सैन्य रचना, लडाई जारी रखना या लडाई टालने आदि की कार्यवाही को 'स्ट्रेटेजी' कहते हैं। महाभारत युद्ध में केवल स्ट्रेटेर्जी का ही उपयोग किया था। प्रतिदिन सेना को इधर उधर लेजाना और सारी रणभूमि पर युद्ध किस प्रकार करना आदि का वर्णन महाभारत में है। कई जगह रथ के द्वन्द युद्धों का वर्णन पाया जाता है। माल्हम होता है कि इनका व्यूह रचना से कुछ भी सन्बन्ध न रहता था। रोज नये २ व्यूह रचे जाते थे और उनके नाम भी भिन्न २ होते थे। क्रौंच और गरुड व्यूह की रचना में क्या अंतर था कुछ भी नहीं कह सकते। दंड नीतिशास्त्र में भिन्न भिन्न प्रकार के व्यूहों का वर्णन पाया जाता है तथापि आधुनिक युद्ध पद्धति के कारण उन व्यूहों का यथार्थ ज्ञान और युद्ध पद्धति का अनुमान नहीं किया जासकता।

चक्रव्यूह की तो कुछ भी कल्पना नहीं की जासकती। सबसे पहले तो यही प्रश्न उपस्थित होता है कि द्रोण ने चक्रव्यूह अपनी निज की रक्षा के लिए रचा था या शत्रुओं का नाश करने के लिए। अक्सर लोग चक्रव्यूह को भूल भुलैया (labyrinth) कहते हैं। परन्तु ऐसा सोचना भूल भरा है। भूल भुलैया की रचना इस ढंग से की जाती है कि एक वार उसमें घुसने पर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। माना नहीं जासकता कि द्रोण ने भी ऐसी ही व्यूह रचना की थी। चक्र गाडी के पहिये को कहते हैं। चक्रव्यूह के वर्णन में लिखा है—चक्र के पाठों के स्थान पर तेजस्वी राजकुमार खडे थे। दुर्योधन मध्य भाग में था और उसकी रक्षा के लिए उसके चारों ओर कर्ण, दुःशासन, कृपाचार्य आदि महारथी खडे थे। द्रोणाचार्य सेना के मुख पर थे और उनके पास जयद्रथ था। जयद्रथ के पास गांधार, शकुनि, शल्य

आदि खडे थे। इस रचना पर से यही सिद्ध होता है कि यह व्यूह द्रोण के रक्षार्थ रचा गया था। चक्र की परिधि पर किसकी सेना खडी थी और किस तरह खडी की गई थी इस बात की कल्पना तक नहीं की जासकती। इसके अलावा अकेला अभिमन्यू ही व्यूह में किस प्रकार घुसा और किस प्रयोजन से, यह बात भी ध्यान में नहीं आती।

व्यूह रचना हो जाने पर सेनापति का फौज के भिन्न २ भागों से कुछ भी संबंध न रह पाता था। व्यूह रचना सबेरे लडाई छिडने के पहले होती थी। कह नहीं सकते कि यह व्यूह दिन भर कायम रह ते थे या नहीं। अक्षौहिणी के परिणाम को देखते हुए यह मानना पडता है कि फौज बहुत दूर तक फैली रहती थी। इतनी दूरी तक फैली हुई सेना के अधिपतियों से सेनापति तक खबर पहुंचाने के लिए दूत नियत थे या नहीं इसका वर्णन कहीं नहीं पाया जाता। व्यूह पक्षियों के आकार के रचे जाते थे। यह रचना आजकल भी जारी है। कारण सेना के दोनों ओर की सेना को "पक्ष" (wings) कहते हैं। सेना में मध्य और दोनों ओर के दो पक्ष होते थे। वे एक दूसरे को सहायता पहुंचाते थे। महाभारत युद्ध में रचे हुए व्यूह में भी यह बात पाई जाती है। युद्ध शुरू हुआ उस रोज पांडवोंने क्रौंच व्यूह रचा था। सिर स्थानपर द्रुपद, कुंती, भोज और चैद्य नेत्र स्थान पर नियत किये गए थे। अर्थात् ये तीनों सेना के अग्र भाग में थे। युधिष्ठिर पृष्ट भाग और मध्यभाग में थे। धृष्टद्युम्न और भीमसेन बायें पक्ष पर थे, द्रौपदी के पुत्र और दूसरे अनेक राजा दहिने पक्ष की सहायता करते थे और दूसरे राजा बाएं पक्ष की मदद करते थे। विराट्, शैव्य और काशिराज पीछे के भाग में थे। यह क्रौंच व्यूह की रचना का वर्णन है। परन्तु

इस सब का मतलब यही कि सेना के अग्र, मध्य दो पक्ष और पीछे के भाग होते थे। कौरवों की व्यूह रचना में भी यही बात पाई जाती है। युद्धारंभ में ऐसा ही वर्णन पाया जाता है परन्तु मध्य भाग का मध्य भाग से व अग्रभाग का अग्रभाग से लडने का वर्णन महाभारत में नहीं पाया जाता।

महाभारत में वर्णित संकुल युद्धों के वर्णन आधुनिक युद्धों के वर्णन से अधिकांश में मिलते हैं। संकुल युद्ध में, पैदल पैदल से, घुड सवार घुड सवार से और रथी रथी से लडते थे। तो भी रथी गजसेना से, गजसेना रथियों से, पैदल अश्वारोहियों से भी लडते थे। गजसेना पैदलसेना पर भी धावा करती थी। यह भी संकुल युद्ध ही कहाता था। महाभारत युद्ध के अन्तिम दिवस के युद्ध का वर्णन बडा उत्तम है। यह पानीपत के युद्ध के समान था। युद्धारंभ में शल्य ने संकुल युद्ध करने का आदेश दिया था। तदनन्तर युद्ध में भिन्न २ भाग की सेना में लडाई हुई थी। दोपहर को शल्य मारा गया परन्तु युद्ध जारी ही रहा। शकुनि के घुड सवारों ने पांडव-सेना पर पीछे से हमला किया तब युधिष्ठिर ने भी सहदेव अश्वारोहियों की सेना ले उसका सामना करने की आज्ञा दी थी। इन दोनों के युद्ध का वर्णन बडा मज़ेदार है। अन्त में कौरव दल की हार हुई। दुर्योधन रणक्षेत्र छोड कर भाग गया। संकुल युद्ध का वर्णन आजकल के युद्ध के वर्णनों से बहुत कुछ मिलते हैं यह बात ऊपर के विवेचन से ध्यान में आजायगी।

अन्य बातें।

फौज के साथ फालतू लोग भी कम न होते थे। उद्योग पर्व के अन्त में लिखा है "सामान के गाडे, व्यापारी, नृतिकाएं,

उनके वाहन, हाथी, घोडे, स्त्रियां, पंगु, आदि फालतु लोग और हाथी पर लदे हुए धनकोष, धान्यकोष आदि के सहित महाराज युधिष्ठिर चले जा रहे थे। " क्या प्राचीनकाल में और क्या अर्वाचीन काल में सामान सेना के साथ चाहिए ही। आधुनिक काल में कडे नियमों के कारण नृतिकाएं फौज के साथ रह नहीं सकतीं। प्राचीन काल की और आजकल की युद्ध पद्धति में बहुत फर्क पड गया है। अतः प्राचीन युद्धों की कल्पना करना संभव नहीं। युद्ध में योद्धाओं का आपस में बात-चीत करना असंभव सा मालूम होता है परन्तु उस जमाने में लडते समय योद्धा पास २ रहते थे अतः उनका बात-चीत करना और अपने २ शूरत्व का वर्णन करना शक्य था। योद्धाओं को लडते समय अपने नाम भी बताना पडते थे। जिस प्रकार स्वयंवर में राजाओं के नाम सुनाई देते थे, उसी प्रकार युद्ध क्षेत्र में भी सुनाई पडते थे। महाभारत के जमाने में सेना को आजकल की तरह कवाईद न कराई जाती थी। तथापि एक स्थान से दूसरे स्थान पर खबर पहुंचाने के लिए दूत नियत थे।

दूतैः शीघ्राश्च संयुक्तैः समन्तात् पर्यवारयन्।

—(भी. अ. १२०-२६)

अक्षौहिणी की संख्या।

महाभारत के जमाने में अक्षौहिणी की संख्या कितनी थी, कुछ पता नहीं चलता। आदि पर्व और उद्योगपर्व अ. १५५ में दी हुई संख्या में बडा अंतर पाया जाता है।

सेना पंच शतं नागा रथा स्थावन्त एवच।
दश सेना च पृतना पृतना दश वाहिनी॥

इस श्लोक के बाद पुनः एक गणना दी गई है।

नराणां पंच पंचाश देषा पति विंधीयते।

इसमें आदिपर्व के समान पत्ति से गणना प्रारंभ की गई है परन्तु यह भी लिखा है कि पत्ति में ५५ सैनिक होते हैं। तदनंतर ३ पत्ति का एक सेनामुख, ३ सेनामुख का एक गुल्म, ३ गुल्म का एक गण होता है ऐसा लिखा है। इस पर से एक गण १०००० का होता है। टीकाकार भी यहां मौन साधे हैं। अस्तु जर्मन सेना की तरह अक्षौहिणी, चमू आदि शब्द आर्मी डिव्हिजन, कोर आदि शब्दों की तरह अनिश्चित ही थे।

युद्ध के १८ वें दिन कौरवों की सेना में लाख सवार और और ३ करोड पैदल, और पांडवों की फौज में १० हजार सवार और २ करोड पैदल थे। स्त्रीपर्व के अन्त में लिखा है कि इस युद्ध में कुल ६६०१३०००० लोग मारे गए थे। (स्त्री. अ. २६) परन्तु यह संख्या १८ अक्षौहिणी से अधिक है। हमारी समझ से यह सौति का कूट है, जिसका हल करना संभव नहीं।



प्राचीन भारतवासियों का सच्चरित्र.

'To the Nations' नामक ग्रन्थ के लेखक पाल रिचार्ड महोदय लिखते हैं:—

" The greatness of a man or Nation is measured by the greatness of an ideal अर्थात् मनुष्य या राष्ट्र का बड़प्पन उसके आदर्श की महानता से गिना जाता है। " उपरोक्त लेखक का भाव यह है कि बड़े २ राज्यों को जीत लेने से तथा सारे संसार पर प्रभुत्व कर लेने से किसी राष्ट्र की सच्ची महानता प्रकट नहीं होती। मनुष्य की या राष्ट्र की महानता उसके उच्च आदर्शों से—उसके उच्च चरित्र से प्रकट होती है। इस दृष्टि से भी अगर हम प्राचीन भारत को देखते हैं तो हम उसे संसार का शिरोमणि और दिव्यता का केन्द्रस्थल पाते हैं। हमारे प्राचीन भारत के निवासियों के उज्ज्वल और दिव्य चरित्र पर आज भी संसार मुक्तकण्ठ से प्रशंसा के उद्गार निकालता है और अन्य राष्ट्रों के लिये उसको अनुकरणीय बतलाता है। कविवर्य्य चान्सर (Chancer) का कथन है—

Truth is the highest thing that man may keep. अर्थात सत्य सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है, जिसे हरएक मनुष्य को पालन करना चाहिये। अब देखिये कि हजारों वर्षों के पहिले से ही भारतवासी अपनी सत्यप्रियता के लिये कितने प्रसिद्ध रहे हैं। स्ट्रेबो (Strabo) कहते हैं–

" They are so honest as neither to require locks to their doors nor writings to bind their agreements अर्थात् वे (भारतवासी) इतने ईमानदार हैं कि न तो उन्हें अपने दरवाजों को ताले लगाने पड़ते हैं और न दस्तावेजों के लिये लेख लिखना पड़ते हैं।

एपिक्टेटस् का शिष्य एरियन (Arrian) जो दूसरी सदी में हुआ लिखता है–

No Indian was ever known to tell the untruth अर्थात् कोई हिन्दुस्थानी असत्य बोलता हुआ न जाना गया। सुप्रसिद्ध चीनी प्रवासी हयूएनसांग लिखता है–

"The Indian are distinguished by the straight-forwardness and honesty of their character. With regard to riches, they never take anything unjustly; with regard to justice, they make even excessive concessions. अर्थात् भारतवासी अपनी सरल प्रकृति और ईमानदारी के लिये प्रसिद्ध हैं। धन के सम्बन्ध में यह बात है कि वह अन्याय से कोई चीज नहीं लेते. न्याय के मामलों में बहुत रिआयत करते हैं ।

स्याम का चीनी राजदूत Khan-thai कहता है कि स्याम के राजा का Su-we नामक रिश्तेदार जो ईसवी सन २३१ में भारत आया था, उसने भारत से लौटने पर राजा से रिपोर्ट की थी कि " The Indians are straightforward and honest अर्थात् भारतवासी सरल प्रकृति और ईमानदार हैं।

फायर जोरडेन्स कहता है कि—

" That the people of India are true in speech and eminent in justice अर्थात् भारतवासी जबान के सच्चे और न्याय के लिये मशहूर हैं ।

चीन सम्राट् Yangti का राजदूत Feitu जो ईसवी सन् ६०५ में भारत आया था, लिखता है कि हिन्दू लोग अपने पवित्र सौगंध पर विश्वास करते हैं। Idrisi अपने भूगोल में, जो ग्यारहवीं सदी में लिखा गया है लिखता है—

" The Indians are naturally inclined to justice and never depart from it in their actions. Their good faith, honesty and fidelity are well known, and they are so famous for these qualities that people flock to their country from every side.

अर्थात् भारतवासियों का स्वाभाविक झुकाव न्याय की ओर है। वे अपने कार्यों में कभी न्याय को नहीं छोडते। उनकी सुश्रद्धा, प्रामाणिकता और कर्तव्यपरायणता सुप्रसिद्ध है। इन सद्-गुणों के लिये वे इतने प्रख्यात हैं कि हरएक बाजू से झूंठ के झूंठ लोग उनके देश में आते हैं ।

तेरहवीं सदी में शमसुद्दीन अबदुल्ला ने एक महान् मुसलमान का मत उद्धृत किया है. उसका सारांश यह है " रेत के कणों की तरह हिन्दुओं की असंख्या संख्या है । वे धोकेबाजी और अत्याचारों से मुक्त हैं । वे जीवन मरण से नहीं डरते हैं । "

मार्को पोलो (Marco Polo) जो तेरहवीं सदी में हुआ, लिखता है—

"You must know that these Brahmins are the best merchants in the world and the most truthful, for they would not tell a lie for anything on earth" अर्थात् आपको जानना चाहिये कि ये ब्राम्हण संसार में सबसे अच्छे व्यापारी और सब से अधिक सच्चे हैं। वे इस पृथ्वी पर की किसी चीज के लिये झूंठ नहीं बोलते।

अकबर के जमाने के सुप्रसिद्ध विद्वान् और आलिम फाजिल अबुलफजल कहते हैं कि "हिन्दू लोग सत्य की तारीफ करनेवाले और अपने सब व्यवहारों में सच्चे रहनेवाले हैं।"

सर जॉन मालकम साहब लिखते हैं—

"Their truth is as remarkable as their courage."

अर्थात् उनका सत्य भी उतना ही उल्लेखनीय है, जितना उनका धैर्य्य।

कर्नल स्लिमन (Colonel Sleeman) जो कई दिनतक हिन्दुओं में रहे हैं और जिन्होंने हिन्दू चरित्र का भली प्रकार अवलोकन किया है, लिखते हैं कि एक गांव के लोग आपस में झूंठ नहीं बोलते। आगे चलकर आप फिर कहते हैं—

"I have had before me hundreds of cases in which a man's property, liberty & life has depended upon his telling a lie and he has refused to tell it अर्थात् मेरे सामने ऐसे हजारों मामले उपस्थित हुए हैं जिनमें मनुष्य की जायदाद, स्वतन्त्रता और जिन्दगी उसके झूंठ बोलने पर निर्भर थी, पर उसने झूंठ बोलने मे इन्कार किया।"

प्रोफेसर मेक्समूलर साहब कहते हैं:—

"It was love of truth that struck all the people, who came in contact with India, as the prominent feature in the national character of its inhabitants. No one ever accused them of falsehood अर्थात् भारतवासियों के राष्ट्रीय चरित्र में सत्यप्रेम एक ऐसी चीज थी, जिसने उन सब लोगों को मोहित कर दिया, जिनसे भारत का सम्बन्ध हुआ।"

सुप्रसिद्ध ग्रीक प्रवासी मेगस्थेनिस कहता है कि भारतवासियों में दासत्व की प्रथा न थी। यहां स्त्रियों का सतीत्व अलौकिक था। लोगों में अचल धैर्य था। बहादुरी में वे सब एशियावासियों से बढ चढे थे, वे बडे गम्भीर, शान्त, मिहनती थे। अच्छे कारीगर थे। वे शायद ही कभी कोई मुकदमा दायर करते। अपने देशी राजाओं के नीचे शान्ति पूर्वक रहते थे।

अकबर के दरबार के सचिव और सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक अबुल फजल लिखते हैं "हिन्दू धार्मिक, नम्र, दूसरों के प्रति दया और सहानुभूति दिखनेवाले, न्यायप्रेमी, कार्यकुशल, कृतज्ञ हृदय, सत्यप्रेमी और, व्यवहार के सच्चे हैं।" कर्नल डिक्सन ने जो अजमेर मेरवाडा के चीफ कमिशनर थे, हिन्दुओं की सत्यप्रियता, प्रामाणिकता, वीरता और राजभक्ति की बडी प्रशंसा की है।

Neibuhr साहब लिखते हैं—

"The Indians are really the most tolerent nation in the world. They are gentle, virtuous, laborious and that, perhapes of all men, they are

the ones who seek to injure their fellow beings in the least अर्थात् हिन्दुस्थानी संसार भर में सबसे अधिक सहनशील राष्ट्र है। वे सभ्य, प्रामाणिक, परिश्रमी हैं और सारे संसार के लोगों में वे ही एक ऐसे हैं जो अपने बंधु जीवधारियों को तकलीफ नहीं पहुंचाते।"

सर मॉनियर विलियम्स लिखते हैं—

हिन्दू लोग किसी प्राणी का वध करना अच्छा नहीं समझते। सर जॉन मालकम हिन्दुओं के चरित्र की प्रशंसा करते हुए फरमाते हैं कि सत्यप्रियता और विश्वासपात्रता में संसार की कोई जाति हिन्दुओं की बराबरी नहीं कर सकती। भारत के पहिले गवर्नर जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्स ने लिखा है—

The Hindoos are gentle, benevolent. more susceptible of gratitude for kindness shown to them than prompted to vengeance for wrongs inflicted, and as exempt from the worst propensities of human passion as, any people upon the face of the earth. They are faithful, affectionate, etc. (Minutes of evidence before the committee of both houses of parliament. March 8th April 1813)

बिशॅप हेबर साहब कहते हैं जो लोग हिन्दुओं के साथ रहे हैं, वे यह कदापि नहीं कह सकते कि सभ्य मनुष्यों में होनेवाले किसी आवश्यक सद्गुण से हिन्दू विहीन हैं। आगे चलकर फिर यही साहब कहते हैं।

"I have found in India a race of gentle & temperate habits, with a natural talent and acuteness beyond the ordinary level of mankind"

प्रोफेसर मेक्समूलर साहब कहते हैं:—

"It was love of truth that struck all the people, who came in contact with India, as the prominent feature in the national character of its inhabitants. No one ever accused them of falsehood अर्थात् भारतवासियों के राष्ट्रीय चरित्र में सत्यप्रेम एक ऐसी चीज थी, जिसने उन सब लोगों को मोहित कर दिया, जिनसे भारत का सम्बन्ध हुआ।"

सुप्रसिद्ध ग्रीक प्रवासी मेगस्थेनिस कहता है कि भारतवासियों में दासत्व की प्रथा न थी। यहां स्त्रियों का सतीत्व अलौकिक था। लोगों में अचल धैर्य था। बहादुरी में वे सब एशियावासियों से बढ़ चढ़े थे, वे बडे गम्भीर, शान्त, मिहनती थे। अच्छे कारीगर थे। वे शायद ही कभी कोई मुकद्दमा दायर करते। अपने देशी राजाओं के नीचे शान्ति पूर्वक रहते थे।

अकबर के दरबार के सचिव और सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक अबुल फजल लिखते हैं "हिन्दू धार्मिक, नम्र, दूसरों के प्रति दया और सहानुभूति दिखनेवाले, न्यायप्रेमी, कार्यकुशल, कृतज्ञ हृदय, सत्यप्रेमी और व्यवहार के सच्चे हैं।" कर्नल डिक्सन ने जो अजमेर मेरवाडा के चीफ कमिशनर थे, हिन्दुओं की सत्यप्रियता, प्रामाणिकता, वीरता और राजभक्ति की बडी प्रशंसा की है।

Neibuhr साहब लिखते हैं—

"The Indians are really the most tolerent nation in the world. They are gentle, virtuous, laborious and that, perhapes of all men, they are

the ones who seek to injure their fellow beings in the least अर्थात् हिन्दुस्थानी संसार भर में सबसे अधिक सहनशील राष्ट्र है। वे सभ्य, प्रामाणिक, परिश्रमी हैं और सारे संसार के लोगों में वे ही एक ऐसे हैं जो अपने बंधु जीवधारियों को तकलीफ नहीं पहुंचाते।"

सर मॉनियर विलियम्स लिखते हैं—

हिन्दू लोग किसी प्राणी का वध करना अच्छा नहीं समझते। सर जॉन मालकम हिन्दुओं के चरित्र की प्रशंसा करते हुए फरमाते हैं कि सत्यप्रियता और विश्वासपात्रता में संसार की कोई जाति हिन्दुओं की बराबरी नहीं कर सकती। भारत के पहिले गवर्नर जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्स ने लिखा है—

The Hindoos are gentle, benevolent, more susceptible of gratitude for kindness shown to them than prompted to vengeance for wrongs inflicted, and as exempt from the worst propensities of human passion as, any people upon the face of the earth. They are faithful, affectionate, etc. (Minutes of evidence before the committee of both houses of parliament, March 5th April 1813)

बिशॉप हेबर साहब कहते हैं जो लोग हिन्दुओं के साथ रहे हैं, वे यह कदापि नहीं कह सकते कि सभ्य मनुष्यों में होनेवाले किसी आवश्यक सद्गुण से हिन्दू विहीन हैं। आगे चलकर फिर यही साहब कहते हैं।

"I have found in India a race of gentle & temperate habits, with a natural talent and acuteness beyond the ordinary level of mankind"

प्रोफेसर मॉनियर विलियम कहते हैं।

" I have found no people in Europe more religious than the Hindoos अर्थात् मैंने हिन्दुओं से अधिक धर्मात्मा मनुष्य युरोप में नहीं देखे।" एक पाश्चात्य विद्वान् कहता है—

" We are told by Grecian writers that the Indians were the wisest of nations अर्थात् हमें ग्रीस के लेखक कहते हैं कि हिन्दू लोग सब राष्ट्रों के लोगों से अधिक बुद्धिमान् हैं

मि. कॉलमन (Coleman) कहते हैं—

The sages and poets of India have inculcated moral precepts and displayed poetic beauties which no country in the world of either ancient or modern date need be ashamed to acknowledge अर्थात् भारतवासियों ने जो नैतिक आज्ञाएं जारी की हैं तथा जैसा काव्य का सौन्दर्य प्रगट किया है, उसे स्वीकार करने में किसी भी आधुनिक या प्राचीन राष्ट्र को न शर्माना चाहिये।

इस प्रकार अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारतवासियों के दिव्य चरित्र की—उनके उच्च और पवित्र जीवन की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। हमारे पास स्थान नहीं है कि हम उन सबका उल्लेख करें। हम अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करें। इससे हमने यह श्रेयस्कर समझा कि हम अपने चरित्र के लिये दूसरों की रायें प्रकट करें।

आर्यों की लेखनकला।

संसार की सभ्यता के विकास में—मनुष्यजाति की उन्नति में लेखनकला ने कितनी अमूल्य सहायता पहुंचाई है, इसे स्वीकार करने में कोई महाशय आनाकानी नहीं कर सकता। अगर लेखनकला का आविष्कार न हुआ होता तो कौन कह सकता है कि संसार का इतना विकास होगया होता। अगर लेखन कला न होती तो आज मनुष्य जाति पशुओं की जंगली अवस्था में रही होती। सभ्यता के विकास में लेखनकला ने जितनी सहायता पहुंचाई है उतनी किसी ने नहीं पहुंचाई। आज इसी लेखनकला के कारण हम बडे २ ऋषिमहर्षियों के दिव्य सिद्धान्तों का—महात्माओं के उच्च उपदेशों का—महान् विचारकों के उच्चाति उच्च विचारों का—विज्ञानियों के आश्चर्यकारक आविष्कारों का—संसार में होनेवाले अनेक परिवर्तनों का हाल जान रहे हैं। इसने सभ्यता का द्वार खोल दिया है। इसने विचार विनिमय का रास्ता साफ कर दिया है। इसी की बदौलत हम आराम कुर्सी पर पडे हुए वेदों के अगाध ज्ञान में गोता लगा सकते हैं। कणाद, कपिल, गौतम आदि के दर्शनशास्त्रों के रहस्यों में डुबकी मार सकते हैं, उपनिषदों को पढते पढते कुछ समय के लिये परम शांति के सरोवर में लीन हो जाते हैं। शंकराचार्य, हेमचंद्राचार्य आदि का तत्वज्ञान पढकर अलौकिक तत्वों को जान सकते हैं। स्पेन्सर, हक्सले, डार्विन, कान्ट, शोपनहार, हेगल के दार्शनिक

विचारों में लीन हो सकते हैं। इसी के सहारे हम अपनी छोटी सी कुटिया में बैठ कर संसार की गतिविधि को आईन की तरह देख सकते हैं। कहांतक कहें लेखनकला से संसार के असीम उपकार हुए हैं। जिन महानुभावों ने पहले पहल इस अलौकिक कला की सृष्टि की वे वास्तव में धन्य हैं और उन्हें जगद्गुरु कहलाने का गौरव प्राप्त हो सकता है।

अब हमें देखना है कि हमारे भारतवर्ष में लेखनकला का आरंभ कब से हुआ?

सुप्रसिद्ध पुरा तत्ववेत्ता बर्ट साहब को विराट् नगर की टेकडी पर एक अत्यन्त प्राचीन शिलालेख मिला है। कहा जाता है कि यही शिला लेख सन् १०२२ में महम्मद गोरी को मिला था। जब उसने पुराने विराट नगर पर हमला कर नारायणपुर ग्राम के नारायण देव के मन्दिर का विध्वंस किया था उस समय उसी मंदिर में यह पाया गया था। जनरल कनिंगहॅम आदि कितने ही पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यह शिला-लेख चालीस हजार वर्ष का पुराना है। अगर इन विद्वानों का यह मत सत्य है तो चालीस हजार वर्ष के पहले भी इस भारतवर्ष में लेखन कला का अस्तित्व सिद्ध होता है। संसार में आजतक जितने शिलालेख मिले हैं, यह उन सब से ज्यादा प्राचीन माना गया है।

ऋग्वेद में जो कितने ही पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार संसार में से प्राचीन ग्रंथ है, अक्षर शब्दका व्यवहार कई जगह आया है। 'क्षर' न होने वाले 'अक्षर' कहाते हैं अर्थात् जो नाश न होनेवाले वे अक्षर। इस धात्वर्थ को मन में लाकर ही इसकी सृष्टि की गई होगी। कारण "मुखोद्गत" तथा "अलिखित

पद " कालान्तर से नाश हो सकते हैं इसलिये उन्हें लेखनद्वारा अमर करने के अभिप्राय से " अक्षर " की सृष्टि की गई होगी। थिऑडर गोल्डस्टकर महाशय का मत है कि संस्कृत के कितने ही शब्दों से आर्यो की लेखनकला अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होती है। उनमें से कितने ही शब्द ये हैं। लिपिकार, काण्डिकांड, पत्र-पटल, सूत्र, ग्रन्थ आदि।

ऋग्वेद के गृह्यसूत्र में और यजुर्वेद के मधुकांड में कई जगह " सूत्र " शब्द का उपयोग किया गया है। पाणिनी के व्याकरण में भी " सूत्र "* और 'ग्रन्थ' ये शब्द पाये जाते हैं। इन दोनों शब्दों से लेखनकला ध्वनित होता है।

मनुस्मृति में तो इस लेखनकला का उल्लेख स्पष्टतया किया गया है। मनुस्मृति के नीचे लिखे हुए श्लोकों से यह बात साफ ज़ाहिर होती है कि उस समय लेखनकला मौजूद थी।

ऋणंदातु मशक्तोयः कर्तु मिच्छेत् पुनः क्रियाम्।
सदत्वा निर्जितां वृद्धिं कारणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥
यो धनदाना सामर्थ्यात् पुनर्लेख्यादि क्रियां कर्तु मिच्छेत्स
सत्य तया आत्मसात् कृतां वृद्धिं दत्वा लेख्यं पुनः कुर्यात्

—कूल्लूकभट्ट।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि मनु और पाणिनी के समय में लेखनकला थी। गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्रों में भी

* Goldstucker (Panini, 1860, P. 26) Contends that the word Sutra and Grantha must absolutely be connected with writing.

—(Weber H. I. Literature).

लेखनकला का अस्तित्व जान पडता है। प्रोफेसर मॅक्समुलर और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के मतानुसार उपरोक्त सूत्रों का काल इसवी सन् के १५०० वर्ष पहले निश्चित होता है मनु का काल एलफिन्स्टन आदि पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओं के मतानुसार ई. सन् के १००० वर्ष पहले सिद्ध होता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि ईसवी सन् १५०० वर्ष के पहले भी भारतवर्ष में लेखनकला मौजूद थी।

मद्रास प्रांत के कृष्ण नगर में नवीन शोध—करने से जो शिलालेख मिले, उनपर से विद्वन्मणि डॉक्टर बुल्हर ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि चन्द्रगुप्त के कई शताब्दियां पहले भी भारतवर्ष में लेखनकला भलीभांति प्रचलित थी। डाक्टर बुल्हर महोदय की तरह और भी कितने ही पाश्चात्य पंडितों ने हमारी लेखनकला की प्राचीनता मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। प्रोफेसर विल्सन साहब कहते हैं—

The Hindus have been in possession of that (writing) as long as of a literature हिन्दुओं के पास जब से साहित्य है, तब ही से लेखनकला भी है। इसका मतलब यह है कि जितना हिन्दुओं का साहित्य पुराना है, उतनी उनकी लेखनकला भी पुरानी है।

Prof. Heeran (प्रोफेसर हीरन) कहते हैं:—

" Everything concurs to establish the fact that alphabetical writing was known in India from the earliest times, and that its use was not confined to inscriptions but extended also to every purpose of common life अर्थात् हरएक खोज इस

तत्व को पुष्ट करती है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में भारत में लेखनकला ज्ञात थी उसका उपयोग केवल शिलालेखों तक ही परिमित न था, वरन साधारण जीवन के हरएक व्यवहार में उसका उपयोग होता था।

Count Bjornstjerna का कथन है:—

That the Hindus possessed written books of religion before 2800 B. C. or 800 years before Abraham अर्थात् हिन्दुओं के पास ईसवी सन् के २८०० वर्ष पहले के तथा अब्राहम के ८०० वर्ष पहले के लिखे हुए ग्रंथ थे।

यूरोप के लीडेन (Leyden) नगर में सन् १८८३ में पौर्वात्यों की "अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस [International Congress of Orientalists] हुई थी, जिसमें एक अत्यन्त नामाङ्कित पाश्चात्य विद्वान् ने "प्राचीन भारत की लेखनकला" पर विद्वत्तापूर्ण निबंध पढ़ा था। उसमें अनेक अकाट्य प्रमाणों द्वारा विद्वान् लेखक ने यह सिद्ध किया था कि वैदिक काल में भारतवर्ष में लेखनकला प्रचलित है। इन्होंने कहा था:—

"I feel no hesitation in saying that there are words and phrases occuring in the Sanhitas of the vedas, in the Brahmans and in the Sutra works which leave no doubt as to the use of the written characters in ancient India. It may be confidently asserted that the systematic treaties in prose which abounded at and long before the

without the help of writing. We know for certain that with the exception of the hymns of the Rigveda, most of the Vaidic works are in prose, and it is difficult to understand how they could possibly have been composed without having recourse to some artificial means."

प्राचीन भारतवासियों का व्याकरणशास्त्र।

हमारे प्राचीन भारतवासियों ने व्याकरणशास्त्र में जितनी आश्चर्यकारक तरक्की की है, हम दावे के साथ कह सकते हैं कि, उतनी संसार के किसी राष्ट्र ने नहीं की है। हजारों वर्षों के पहले हमारे ऋषियों ने जैसे नियम बनाए हैं वैसे इस सुधरे हुए जमाने में भी पाश्चात्य राष्ट्र के कोई विद्वान् किसी भाषा में न बना सके हैं। प्राचीन भारतवासियों का व्याकरणशास्त्र संसार के साहित्य में एक अद्भुत् आविष्कार है। संस्कृत व्याकरणों में महर्षि पाणिनि का अष्टाध्यायी व्याकरण आजकल विशेषरूप से प्रचलित है। इसे देखकर बुद्धि मुग्ध होजाती है, और यह खयाल होने लगता है कि मानवी बुद्धि इससे अधिक बढ़िया व्याकरण निर्मित नहीं कर सकती। सर हंटर महोदय लिखते हैं—

"The Grammar of Panini stands supreme among the grammars of the world. अर्थात् पाणिनि का व्याकरण संसारभर के व्याकरणों में शिरोमणि है।" मिसेस मेनिंग कहती है—

"Sanskrit Grammar is evidently far superior to the kind of grammar which for the most part has contented grammarians in Europe अर्थात् संस्कृत व्याकरण किसी भी प्रकार के अन्य व्याकरण से (जिनसे कि युरोप के व्याकरण शास्त्री संतुष्ट हैं) बहुत ही उच्च श्रेणी का है।" मि॰ एलफिन्स्टन कहते हैं—

" His works (Panini's) and those of his successors have established a system of Grammar, the most complete that ever was employed in arranging elements of human speech अर्थात् पाणिनि और उनके पूर्व वैयाकरणों के ग्रन्थों ने व्याकरण की वह पद्धति स्थापित की है, जो बहुत ही पूर्ण है और जिसमें मनुष्यों की वाणी के तत्वों को इस प्रकार व्यवस्थित किये हैं, जैसे पहले कभी नहीं किये गये थे।" प्रोफेसर मैक्समूलर साहब फरमाते हैं—

" Their acheivements in Grammatical analysis are still unsurpassed in the grammatical literature of any nation अर्थात् व्याकरण में उन्होंने (हिन्दुओं ने) जो महान् कार्य्य किये हैं वे आज भी संसार के व्याकरण सम्बन्धी साहित्य में अपूर्व हैं।" प्रोफेसर मॉनियर विलियम्स कहते हैं—

" The grammar of Panini is one of the most remarkable literary works that the world has even seen and no other country can produce any grammatical system at all comparable to it, either for originality of plan or analytical subtlety अर्थात् पाणिनि का व्याकरण संसार के साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों में एक अपूर्व चीज है। कोई देश व्याकरण की ऐसी पद्धति का आविष्कार नहीं कर सकता, जो इसका मुकाबला कर सके।" इस प्रकार अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने हमारी व्याकरण पद्धति को अपूर्व कहा है।

मेगेस्थनीज ने अपने प्रवास वर्णन में हिन्दू पंचायतों का वर्णन किया है। उसमें पंचायत शब्द के लिए Pentads शब्द का उपयोग किया है। पंचायत शब्द पंच+आयत से बना है। मेन साहब का मत है कि इनमें प्रारंभ में पांच ही सदस्य रहा करते थे और इसीलिए यह नाम दिया गया है। परन्तु यह उनका भ्रम है। संभव है प्रारंभ में जब गांव छोटा रहा हो, पंचायत के सदस्य भी कम रहे होंगे। किन्तु ज्यों ज्यों गांव की लोक संख्या बढ़ती गई, पंचायत के सदस्यों की संख्या भी बढ़ती गई होगी। अष्टाध्यायी के सूत्र 'ग्रामः शिल्पिनि' पर से यही सिद्ध होता है कि पाणिनि के जमाने में ग्राम संस्थाओं का अस्तित्व था। अष्टाध्यायी के एक सूत्र 'ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः' में ग्रामतक्ष (कामदार) सुतार और कौटतक्ष (स्वतंत्र कारीगर) ये दो भेद बताया है। पतंजल भाष्य में 'एच इग्घ्रस्वादेशे' सूत्र के भाष्य में पंचकारुकी शब्द उदाहरण के तौर पर दिया गया है। नागोजी भट्ट ने अपने अपने विवरण ग्रन्थ में उसी की 'वास्तव्यः कर्तारिनव्यास्तः कुलालकर्मारवर्धकिनापितरजकः पंचकारुकी' ऐसी व्याख्या की है। अर्थात् जिस गांव में कुम्हार, लुहार, सुनार, नाई, और धोबी ये पांच रहते हों उसे ही पंचकारुकी कहना चाहिये। इसका यह मतलब नहीं कि इन पांच कारीगरों के सिवा अन्य लोग उस गांव में न रहते हों। अमरकोश के सुधाख्या टीकाकार ने 'तक्षा च तन्तुवायश्च नापितो रजकस्तथा, पंचमश्चर्मकारश्च

कारव: शिल्पिनो मता: । नामक कारुपंचक दिया है । अत: यह माना जासकता है पंचकारुकी व पंचायत एक ही है और यही पांच मूल ग्रामभृत्य हैं । मद्रास प्रांत में ' पंचाल ' नामक एक जाति है उसमें भी उक्त पांच कारीगरों का समावेश होता है।

' पंच ' या पंचायत, शब्द पर से प्रथमत: यही धारणा होती है कि प्रारंभ में उसमें पांच ही सभासद रहा करते होंगे. परन्तु इस सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते और न इस बात का ही पता चलता है कि ' पंच ' और पंचायत नामों की सृष्टि कैसे हुई । पेशवा के जमाने में महाराष्ट्र में ग्रामपंचायत में दो से लगाकर ९० तक सभासद रहा करते थे । जहां प्राचीन ग्राम संस्था थोडी बहुत कायम है वहां पंचों की संख्या नियमित नहीं रहती । प्राचीन काल से लोगों को विश्वास है कि विषम संख्या में कुछ विशेष गुण है और इसीलिये पंच संभवत: तीन या पांच रहा करते होंगे । संभव है कि मेन साहब का तर्क सही हो परन्तु उस पर से एक कल्पना और संभवनीय माल्रम होती है ।

पंचायत के सभ्यों का निर्वाचन होता था । अतएव उसमें सब वर्ण के प्रतिनिधियों का होना आवश्यक है । ब्राम्हण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चारवर्ण और तदितर अन्त्यजाति हीन लोग पांचवें वर्ग में गिने जाते हैं । वेद में भी ' पंच चर्षणी: ' निषाद पंचम: वर्णा: आदि उल्लेख पाये जाते हं । और इस प्रकार पंच वर्णात्मक लोगों की सभा होने के कारण उसे पंचायत नाम दिया गया । यदि यह व्युत्पत्ति सत्य ठहरी, तो मेन साहब का विधान गलत मानना पडेगा ।

पंचायत की व्यवस्था कितनी प्राचीन है और लोक-प्रिय इसके प्रमाण में इतना ही कहना काफी है कि क्या युवा [illegible] पंच परमेश्वर, कहा करते हैं ।

पंचायत न्याय करती और व्यवस्था रखती थी। इंग्लैण्ड की पार्लमेंट सेक्सन लोगों की 'विलेज मोट' और भारतवर्ष की ग्राम पंचायत सहोदर भागिनियां हैं।

न्यायाधिकार ।

स्मृतियों में प्राचीन न्यायपद्धति के वर्णन पाये जाते हैं। उन पर से पता चलता है कि ग्राम मंडलों का न्यायाधिकार अनियंत्रित था। आजकल यह प्रतिपादित किया जाता है कि आधुनिक ज्यूरी की पद्धति के आदि जनक अंग्रेज ही हैं। परन्तु यह भूल है। प्राचीन काल में यह पद्धति भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित थी। उस जमाने में एक न्यायाधीश द्वारा इन्साफ करने की प्रथा गौण एवं अपवाद रूप मानी जाती थी। इतना ही नहीं वरन यह भी सिद्ध किया जासकता है कि प्राचीन काल से चला आनेवाला और इंग्लेण्ड के सुप्रसिद्ध 'मेग्नाचार्टा' में लिखा हुआ ज्यूरी का हक तथा भारत में प्रचलित न्याय पद्धति का उगम एक ही है। यह उगम प्राचीन ग्रामसंस्था और उनका न्यायाधिकार है। इतिहासकारों का मत है कि प्राचीन काल में स्वर्गीय लोग ही अपने वर्ग के मनुष्यों के झगडे तोडते थे। तदनन्तर राजसत्ता बढती गई और धीरे धीरे राजा या उसके प्रतिनिधि द्वारा इन्साफ करने की पद्धति प्रचलित होगई। भारतवर्ष को भी यह सिद्धांत लागू होता है। प्राचीन धर्मग्रंथों में तीन राज-नियुक्त न्यायाधीशों के और तीन समूहात्मक न्यायाधीशों के न्याय स्थानों के वर्णन पाये जाते हैं। राजा ही सर्व श्रेष्ठ माना जाता था। राजा की सभा ही अपील करने की आखिरी कोर्ट थी। राजा के बाद प्राड्विवाक या धर्माध्यक्ष का नंबर था। धर्माध्यक्ष का अधिकार आजकल के डिस्ट्रिक्ट जज्ज के अधिकार

[illegible] था। वह नियमित स्थान पर कचहरी करता था। प्रत्येक गांव में एक [illegible] न्यायाधिकारी रहा करता था। [illegible] धर्माध्यक्ष की मातहती में थे। उक्त तीन प्रकार के न्यायाध्यक्षों को सलाह देने के लिये तीन से ७ तक मंत्री रहा करते थे। इस पर से यह साफ़ मालूम होता है कि प्राचीन भारत-वासियों को यह अच्छी तरह से मालूम था कि न्याय जैसे महत्व के काम को एक व्यक्ति की मर्ज़ी पर छोड़ना ठीक नहीं। ये तीन न्यायसभाएं [illegible] ही थीं। परन्तु उनमें भी ऊपर लिखित राजन्याय [illegible] के समान परम्परा थी। ये तीन न्याय सभाएं—कुलसभा, [illegible], और ग्रामसभा थीं और उन्हें अनुक्रम से कुल, श्रेणि और [illegible] संज्ञा दी गई थी। झगड़ा होने पर सब से पहले कुल अर्थात् [illegible] प्रतिवादी के रिश्तेदारों की सभा उस पर विचार [illegible]। तदनन्तर श्रेणि अर्थात् उस जाति या धंधे की सभा में अपील की जाती थी। और अन्त में यह झगड़ा [illegible] सभा में पेश होता था। (याज्ञ. व्यव. ३०) ग्रामसभा में झगड़ा न निपटने पर प्राड्विवाक की सभा में अपील की जाती थी और [illegible] राजा की सभा में। स्मृतिचंद्रिका में [illegible] [illegible] न्याय [illegible] हैं बृहस्पति का मत है कि [illegible] [illegible] सभाओं को राजा की अनुज्ञा से [illegible] अधिकार प्राप्त हुए थे। परन्तु 'वीरमित्रोदय' के कर्ता ने बृहस्पति के मत का खंडन करते हुए इन सभाओं के नैसर्गिक अधिकार को स्थापित किया है [illegible] और प्राड्विवाक ही को ग्रामसभा पर अपील सुनने का अधिकार था किन्तु उन्हें अपने मंत्रिमंडल की मत [illegible] मंत्रिमंडल की रचना पर से यही मालूम

[illegible] and essay of H. T. Colebroke Vol. II [illegible] सन् १८९८ में रॉयल एसियाटिक सोसाइटी

और अन्य व्यवस्था रखने की सार्वजनिक रीति । इन तीन प्रमाणों द्वारा मेन ने यह सिद्ध किया है कि पूर्व काल में गांव एक समूहात्मक व्यक्ति था । पहली दो रूढ़ियां अब लुप्त होगई हैं । तोभी कहीं २ उनका अस्तित्व पाया जाता है । और तीसरी पर हम विचार कर ही चुके हैं । ब्रिटिश राज्य स्थापित होने के पहले गांव के अधिकार की जमीन के तीन विभाग सर्वत्र पाये जाते थे । यूरोप में जिस प्रकार 'टाउन मार्क' 'कॉमन फील्डस्' और 'पास्चर' नामक गांवकी जमीन के तीन भाग पाये जाते हैं । वैसे ही भारत में भी 'ग्राम से व्याप्तभूमि' 'खेती करने योग्य जमीन और 'चरनोई या जंगल' नामक गांव की जमीन के तीन विभाग पाये जाते हैं और उनका स्वामित्वाधिकार व उपयोग न्यूनाधिक परिमाण में ग्रामवासियों में बांट दिया जाता था और प्रत्येक का अपने निज के टुकड़े पर पूर्ण स्वामित्व होता था । कृषि योग्य जमीन तीन भागों में विभक्त की गई थी । प्रत्येक भाग में से एक एक खेत हरएक किसान को दे दिया जाता था । और वह बारी बारी से उसे जोतता बोता था तथापि उसका उस पर पूर्ण अधिकार न था । कुछ वर्षों बाद खेत बदले जाते थे । अर्थात् पुनः पुनः वितरण की प्रथा सर्वत्र प्रचलित थी । प्रथम ग्रामसमूह और उसके अधिकार की जमीन अविभक्त थी परन्तु बाद ज्यों २ मंडल में अन्य लोगों का समावेश होने लगा त्यों त्यों व्यक्ति के हक और भाग नियमित किये जाने लगे ।

वेडन पावेल साहब* का मत है कि मनुष्य जाति की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही के कारण सब राष्ट्र और जाति में ग्राममंडल का उदय होता है । इस प्रकार ग्रामसंस्थाएं मैदान ही में उत्पन्न होती हैं ।

---

* Land systems of British India by B. H. Baden-Powel 3 Vols.

same. In times of trouble they arm and fortify themselves. An hostile army passes through the country; the Village communities collect their cattle within their walls and let the enemy pass unprovoked. + + + This union of Village communities, each one forming a state in itself, has, I believe, contributed more than any other cause to the preservation of the people of India, through all the revolutions and changes which they have suffered, and is in a high degree conducive to their happiness, and to the enjoyment of a great portion of freedom and independence." *

अर्थात् भारतवर्ष के ग्राममंडल छोटे २ लोक सत्तात्मक राज्य हैं। वे आप अपनी आवश्यकताओं को पूरी सकते हैं अतः उन्हें किसी वस्तु के लिए दूसरों पर अवलम्बित नहीं रहना पडता। अन्य संस्थाएं नष्ट होगईं किन्तु वे सजीव हैं। एक के बाद एक कई राजघराने नष्ट होगए; कई राज्यक्रान्तियां हुईं; हिन्दू, पठान मुगल, मरहठे, सिख और अंगरेजों ने अनुक्रम से देश जीता; किन्तु ग्राममंडल पूर्ववत् बने ही रहे। शत्रु के आक्रमण के समय में प्रत्येक गांव अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित हो तैय्यार रहता है। जब शत्रु गांव के पास से निकलता है तो वे अपने पशु शहर पनाह में बंद कर देते हैं और उसे विना छेडछाड किए ही चला जाने देते हैं। × × × ग्राममंडलों के इस ऐक्य के कारण वे एक प्रकार का छोटासा राज्य मालूम होते हैं। इसीसे वे सब

---

* Elphinstone's History of India, P. 68.

होते जरूर हैं; परन्तु सर्वस्व नष्ट होजाने का भय सदा बना रहता है। यदि यही अधिकार थोडा २ भिन्न २ संस्थाओं में बंटा हुवा हो तो सबका सब नष्ट होने की संभावना नहीं रहती। यह सामान्य नियम है। और यही कारण है कि अनेकों हमले और राज्यक्रान्तियों के होने पर भी उनका प्राचीन स्वरूप नष्ट नहीं हो पाया।

पाश्चात्य देशों में गरीबी के कारण लोगों को विशेष कष्ट सहना पडता है। श्रमजीवियों के कष्ट निवारणार्थ यूरोप में अनेकों संस्थाएं स्थापित की गई हैं। परन्तु भारतवर्ष में उस ढंग की संस्थाओं का एक प्रकार से अभावसा ही है। यूरोप की तरह यहां भी सम्पत्ति वैषम्य था परन्तु हमारी ग्रामव्यवस्था ने राव और रंक में दुःख के वक्त परस्पर सहायता करने की बुद्धि सदा जागृत रखी और इसी से धनियों के धनगर्व और गरीबों के मत्सर के कारण पाश्चात्य देशों में उन दोनों वर्गों में एक प्रकार का वैर भाव पैदा हो गया है। उसका भारतवर्ष में बिलकुल अभाव ही है।

आजकल का सम्पत्ति वैषम्य दूर करने के लिए 'कम्यूनिझम,' 'सोशियालिझम्,' 'निहिलिझम्,' आदि संस्थाएं अस्तित्व में आई हैं। रशिया के बोलशेविझम् का भी यही मूल है। परन्तु आलस का प्रतिबंध कर गुणानुरूप धनविभाग करने की उलझन को वे नहीं सुलझा सके हैं। हमारी ग्राम व्यवस्था ने उद्दिष्ट हेतु साध कर यह उलझन सुलझा ली थी। अंगरज सरकार के कर्मचारियों के मतानुसार भारत की दरिद्रता कम होती जारही है और वह उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। वे कहते हैं कि भारत का वैदेशिक व्यापार बढता जारहा है और वे अपनी बात पुष्टि के लिए आयत और निर्गत के अंक पेश करते हैं।

आजकल के प्रतियोगिता के जमाने में प्राचीन ग्रामरचना सर्वांश में हितप्रद नहीं हो सकती । प्राचीन ग्रामव्यवस्था के निरुपयोगी भागों को छोडकर उनमें देश काल और परिस्थिति के अनुरूप सुधारकर उनका पुनरुज्जीवन करना प्रत्येक राजकर्ता का प्रथम कर्तव्य है । हमारे राजा महाराजाओं से यह काम अच्छीतरह पूर्ण हो सकता है । क्योंकि वे सजातीय लोगों के आचार-विचार और आवश्यकताओं को अच्छीतरह समझ सकते है । पंजाबकी ग्रामसंस्थाओं ने सन १८५७ के बलवे में कितनी सहायता दी, यह बात सर जॉर्ज कैम्बेल ने अपनी पुस्तक में अच्छीतरह दिखाई है । *

ग्रामपंचायत स्थापित हो जाने से पहला लाभ यह होगा कि न्याय सस्ता होजायगा । और न्यायालयों का कार्य भी हलका होजायगा । आजकल के न्यायालयों में इन्साफ बहुत महंगा पडता है । स्टॉम्प, रजिस्ट्रेशन फी, वकील, साक्षीदार आदि के खर्चे के मारे दिवाला पिट जाता है । अतएव गरीबों को चुपचाप अन्याय सह लेना पडता है । छोटे २ मुकदमों के लिए भी अदालतों की शरण लेना पडती है, जिसमे ' स्मालकॉज कोर्ट ' और मुंनसिफ कोर्टों का काम बहुत बढगया है । इन दोनों संकटों के निवारणार्थ करने का एकमात्र उपाय ग्रामपंचायतों का स्थापित करना ही है । मौंटस्टुअर्ड एल्फिन्स्टन, सर. टी. मनरो, सर. जे. मालकम आदि कई पाश्चात्य विद्वानों का भी यही मत है । भारतवर्ष के समान कृषि--प्रधान देश के लिए ग्रामपंचायतें ही ज्यादा फायदेमन्द है ऐसा करने से लोगों को तो कम खर्च में इन्साफ मिलेगा और सरकारी कर्मचारियों का काम भी बहुत घट जायगा । पंजाब,

* System of Land tenures in various countries.

बम्बई, आदि प्रदेशों एवं बडौदा, देवास आदि देशी संस्थानों में ग्रामपंचायतों से लाभ ही हुआ है। कई जिले के न्यायाधीशों ने लिखा है कि पुरावा न होने के कारण सेशन कोर्ट को कई मुकदमे खारिज करना पडते हैं। यदि ये मुकदमे ग्राम-पंचायतों में पेश होते तो अच्छा फैसला होता।

अकाल के समान आपत्काल में लोगों के प्राण रक्षण के लिए ये संस्थाएं बहुत काम आयंगी। कई कारणों से कई लोग सरकारी रिलीफ वर्क से सहायता नहीं लेते। फिर चाहे भूख के मारे उनके प्राण ही क्यों न निकल जायं। कारण अच्छे खानदान के लोग सरकारी रिलीफ वर्क से सहायता लेना अपमानकारक समझते हैं। फेमीन कमीशनों ने भी शिफारिस की है यह काम ग्रामसंस्थाओं के, गांव के लोगों की कमेटी के, सिपुर्द कर दिए जायं। अतएव पंचायतों के स्थापित हो जाने से अकाल के जमाने में लोगों को विशेष लाभ पहुंचने की संभावना है।

हिन्दुस्थान में जंगलों पर सरकार का अधिकार है। जंगलों की रक्षा के लिए सरकार को एक अलग विभाग रखना पडता है। इससे खर्च भी बढगया और लोगों पर जुल्म भी होने लगा। ईंधन काटने, घास और चरागाह आदि सम्बंधी सरकार ने कई सहूलियतें दी हैं किन्तु तो भी लोगों को जुल्म सहना ही पडता है। यदि जंगल लोगों के सिपुर्द कर दिए जायं तो बहुतसा खर्च और परिश्रम बच जायगा और लोगों पर अत्याचार भी न हो पायंगे। प्राचीन काल में हरएक गांव के लिए जंगल रक्षित रखे जाते थे और उसपर ग्राम निवासियों का संयुक्त अधिकार रहता था। ईंधन, हल आदि के लिए लकडी, घास आदि किसानों को इसी जंगल में से मिलता था। आजकल जंगल रक्षित रखने के मिस से सरकार ने जंगलों